# सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी

## भाग-१

### २२५ उत्तर सहित

स्वामी निरंजन

# प्रस्तावना

अनादिकाल से संसार समुद्र में परिभ्रमण करते-करते इस जीवको यह सर्वश्रेष्ठ देव दुर्लभ मानव देह की प्राप्ति कभी-कभी ही होती है । इस शरीर की प्राप्ति हेतु सभी योनियोंवाले जीव इच्छा करते हैं तथा सभी शास्त्रों में मानव जीवन का ही यशोगान किया गया है ।

**नरतन सम नहीं कोउक देही ।**
**जीव चराचर याचत जेही ।।**

**बड़े भाग्य मानुषतन पावा ।**
**सुर दुर्लभ सब ग्रन्थ हिं गावा ।।**

**कबहुक करिकरुणा नर देही ।**
**देत इश बिन हेतु सनेही ।।**

**मनुष्य सदृशं जन्म कुत्रापि नैवा विद्यते ।**
**देवताः पितृःसर्वे वाञ्छन्ति जन्म मानुषम् ।।**

असंख्य वर्षों तक विषय विलासों के राग-रंग में निमग्न रहने वाले दिव्य और सुगन्धी देह को धारण करने वाले देव भी इस दुर्गन्ध वाले क्षणभंगुर मानव देह की प्राप्ति हेतु प्रभु से सतत प्रार्थना करते रहते हैं । क्योंकि इस मानव जीवन की प्राप्ति हुए बिना जीव के जन्म - मरण रूप असाध्य रोग को निवृत कराने में अन्य कोई योनि समर्थ नहीं है । आश्चर्य एवं बहुत ही दुःख की बात है कि ऐसे उत्तम जीवन को चौरासी लाख योनियों के कष्ट एवं भ्रमण के पश्चात् प्राप्त होने पर भी अज्ञानीजन संसार के अनित्य धन, पुत्र, स्त्री, पुरुष, मोटर, गाड़ी, बाड़ी आदि पदार्थों की प्राप्ति में ही जीवन की दुर्गति कर रहे हैं ।

वेद, पुराण में चार प्रकार के पुरुषार्थों का मुख्य रूप से निरूपण किया है, उनमें से मोक्ष की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है । अर्थात् दूसरे जीवों की भलाई का विचार मन में रखते हुए धार्मिक कर्म के द्वारा अर्थ संग्रह कर कामनाओं की पूर्ति करता हुआ जीव मोक्ष धाम की यात्रा को सफल बनावे । किन्तु आज के जीव इतने चतुर हो गये हैं कि उन्होंने धर्म एवं मोक्ष को जीवन से निकाल अर्थ एवं काम को ही एक मात्र अपना परम लक्ष्य बना लिया है । जबकि दु:खों की कारण सहित सदा के लिये पूर्ण निवृत्ति एवं परमानन्द स्थिति का अनुभव रूप ही मोक्ष कहलाता है । इस प्रकार की स्थिति का वास्तविक साधन जीव-ब्रह्म की एकता रूपी ज्ञान को ही वेद ने स्वीकार किया है ।

बड़े दु:ख की बात है कि आज का मानव दिन प्रतिदिन इस विज्ञान के युग में परतंत्र होता चला जा रहा है । अपने सभी काम नौकरों एवं मशीनों द्वारा पैसे के बल पर होने लग गये हैं । अधिकांश लोग बड़े आराम तलब हो गये हैं । प्राय: घर के प्रत्येक कार्य तो नौकरों के द्वारा करा ही लिये जाते हैं, लेकिन साथ-साथ धनाढ़्य लोग पैसे के नौकर अथवा पुजारी रख भगवानजी की भी सेवा, पूजा करा लेते हैं । बस केवल प्रेम करने का कार्य ही अपने हाथों में है । कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ समय बाद मनुष्य इतने आरामखोर, आलसी हो जावेंगे कि वे इस व्यक्तिगत प्यार जैसे कृत्य को भी अन्य से करा लिया करेंगे । मनुष्य को आज जहाँ थोड़ा कुछ सोचने विचारने का विषय आता है तो वह कह देता है भाई ! यह काम हमारे तो बस का नहीं है एवं माथा पकड़कर बैठ जाता है । याद रखो ! अति सूक्ष्म विषय को जानने हेतु बुद्धि भी उतनी ही सूक्ष्म होनी चाहिये । जैसे सुई में धागा पिरोने के लिये वह छिद्र से बारीक ही होना चाहिये । मोटा धागा बारीक सूई में प्रवेश नहीं कर सकता है। उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म आत्म तत्त्व को अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है । इसके लिये श्रुति कहती है -

**एष सर्वेषु भुतेषु गुढ़ात्मा न प्रकाशते ।**
**दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥**

**- कठोपनिषद १ - ३- १२**

अर्थात् ये आत्मब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान सबके अन्तर्यामी हैं । अतः सब प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं, परन्तु अपनी माया के परदे में छिपे रहने से सबके प्रत्यक्ष नहीं होते हैं । यह केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझाने वाले पुरुषों द्वारा ही अति सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धि से ही जाना जाता है । इसी बात को स्मृति में भी योगेश्वर श्रीकृष्णजी महाराज कहते है -

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः**
**मुढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥**

**- गीता ७ - २५**

अर्थात् अपनी नाम, रूपात्मक योगमाया से छिपा हुआ मैं सबको अस्ति, भाति, प्रिय रूप से प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । ये बुद्धि के मन्द, अज्ञानी मनुष्य अपने अजन्मा अविनाशी आत्म स्वरूप को नहीं जान पाते हैं, बल्कि मुझको जन्मने मरने वाला मानते है, मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप को तो कोई ज्ञान चक्षु द्वारा ही जान पाते हैं ।

**''पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः''**

**- गीता १५/१०**

इस प्रकार अति सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य आत्म तत्त्व को प्रायः लोग कठिन कहकर छोड़ देते हैं । थोड़ा भी विचार नहीं करते हैं कि इस प्रकार पैसे द्वारा नौकरों के बल पर हमारा परमार्थ कैसे बनेगा ? इधर धन के लोभी पंडित लोगों ने भी ऐसे अज्ञानियों को नाना प्रकार के भेद कल्पित देवी, देवताओं के पूजन का विधान कर उनकी भक्ति में दृढ़ता कराकर उनके तन, धन, मन का शोषण कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं एवं

ज्ञान होने के पूर्व तक करते ही रहेंगे । यहाँ तक कि उपासना के नाम पर ब्रह्म से लेकर भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, तुलसी, आँवला, वट, पीपल, उखड़ा, बाँस, दण्ड, फरसा, त्रिशुल, आँक, पत्थर, मूसला, सुपड़ा, पुस्तक, जल, पृथ्वी तक की उपासना चल पड़ी है । कोई चने गुड़ की तो कोई मालपुआ, जलेबी की उपासना करने लग गये हैं । मानो सबकी बुद्धि का दिवाला ही निकल गया हो अथवा बुद्धि किसी को गिरवी (बन्धक) ही रख दी है । इस प्रकार धर्म उपदेशक भी जिज्ञासुओं की भिन्न - भिन्न कामनाओं के अनुसार नये-नये देवी-देवताओं का जन्म एवं प्राण प्रतिष्ठा करा - कराकर उन्हें भेद भक्ति की कैद में पुण्य की आशारूपी जन्जीर से बन्धकर दु:ख को बढ़ाते रहते हैं ।

## 'अभेद दर्शनं ज्ञानम्'

मोक्ष का साधन तो एक मात्र ज्ञान है । यही सब वेद, उपनिषद का विवाद रहित निश्चय है । यह अभेद ज्ञान भी सद्गुरु के मुख से वेदों के 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के 'तत' पद तथा 'त्वं' पद के भाग - त्याग लक्षणा द्वारा अविरोधी अंश को ग्रहण करने व विरोधी अंश के त्याग करने से ही होता है । इस ज्ञान के सम्पादन हेतु जिज्ञासुओं को विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षादि साधन सम्पन्न होकर अद्वितीय परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान का निरूपण करने वाले शास्त्रों का किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, अपने पूर्व मताग्रह छोड़कर निष्पक्ष बुद्धि द्वारा करना चाहिये, क्योंकि पक्षपाती, मताग्रही सत्य को प्राप्त नहीं कर पाता है ।

जीव - ब्रह्म की एकता के बोध कराने के लिये विद्वान पुरुषों ने उपनिषदों के आधार से संस्कृत भाषा में बहुत से ग्रन्थ रचे हैं, किन्तु वे केवल संस्कृत भाषा के पाठकों के ही उपयोगी हैं । अन्य भाषा ज्ञानवालों के उपयोगी नहीं है । तथापि उन संस्कृत ग्रन्थों के आधार से बंगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि भाषा में भी वेदान्त के ग्रन्थों को रचा है किन्तु वे ग्रन्थ भी साधारण बुद्धि वाले मुमुक्षुओं को उपयोगी नहीं होते

हैं। अतः जिज्ञासुओं के बार-बार अनुरोध करने पर उन्हीं पंचीकरण, विचार चन्द्रोदय, विचार सागर, पंचदशी, गीता, उपनिषद, योग वशिष्ठ आदि प्रक्रिया ग्रन्थों के आधार से सरल हिन्दी अनुवाद रूप यह ग्रन्थ "**सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी**" नाम से प्रकाशित करने की कृपा की है । इसमें कितनी सफलता मिली है यह तो जिज्ञासुजन ही अनुभव कर सकेगें। ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर रूप में वेदान्त की सभी सरल एवं उपयोगो प्रक्रियाओं का विस्तार से समावेश है । जिसके विचार पूर्वक अध्ययन करने से वेदान्त का कोई भी ग्रन्थ सरलता से समझ में आ सकेगा । यह ग्रन्थ मुमुक्षुओं को जीव ब्रह्म की एकता रूप वास्तविक अपरोक्ष ज्ञानोदय कराने वाला होगा ऐसा मेरा अनुभव है ।

जिज्ञासु इस ग्रन्थ का पूर्ण लाभ तभी उठा सकता है जब वह ग्रन्थ को प्रारंभ से समाप्ति तक किसी श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा श्रवण करे । कयोंकि विचार-सागर रचयिता श्री निश्चल दासजी महाराज ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि -

**वेद उदधि बिनु गुरुलखै, लागे लवण समान ।**
**बादल गुरु मुख द्वार है, अमृत से अधिकान ।।**

समुद्र का जल सीधा पान करने से वह अप्रिय खारा लगता है किन्तु वही जल बादल द्वारा प्राप्त होने पर प्रिय एवं तृषा निवृत्ति करता है। इसी प्रकार वेद रूपी समुद्र का पान जो बिना गुरु के करेंगे तो वह जीव ब्रह्म में भेद बुद्धि रूप भ्रान्ति को ही बढता है किन्तु वही वेद रूपी सागर का जल गुरु मुख रूपी बादल के द्वारा श्रवण करने को मिले तब वह अमृत रूप हो जाता है ।

**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यान्ति मानवाः ।**
**तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।**

श्वेताश्वरो उप. ६ / २०

हाँ जब मनुष्यों में इतना सामर्थ्य हो जावेगा कि वे आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे तब वे, उस परमेश्वर को आत्म रूप से जाने विना भी दुःखों से, अपने मन कल्पित साधनों द्वारा मुक्त हो सकेंगे । जो मुमुक्षु श्रद्धा पूर्वक सत्संग करते हैं उनको अपने आत्मा का दृढ़ ज्ञान हो जाता है । 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के दृढ़ ज्ञान मुमुक्षुओ के अपने स्त्री, पुरुष, जाति, आश्रम आदि का भेद मनसे हटाकर ही हो पाता है। वेदान्त ज्ञान के सभी मूल ग्रन्थों के प्रत्येक वाक्य में बहुत ही गम्भीर अर्थ छिपा है तथा भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ भी हैं । उनको सरल तरीके से स्पष्ट कर तथा कठिन प्रक्रियाओं को छोड़ साधारण बुद्धि वाले को भी अद्वैत बोध हो सके ऐसी शुभ भावना से प्रेरित होकर यह रचना आपके सम्मुख प्रस्तुत हो रही है । ग्रन्थों में द्रष्टान्त सिद्धान्त को समझाने हेतु दिये जाते हैं, क्योंकि वेदान्त का उच्चतम ज्ञान सीधा किसी के समझ में आ जावे ऐसी आशा नहीं की जाती है । इसलीये द्रष्टान्तों को सर्वांश में तौलने का दुराग्रह न करें । दृष्टांत यदि सर्वांश में मिल गया तो फिर वह लक्ष्य ही हो जावेगा, फिर वह द्रष्टान्त केवल द्रष्टान्त नहीं रह सकेगा । अतः द्रष्टान्त किसी एक अंश में ही लिया जाता है। वैसे ब्रह्म अद्वितीय है उसके समान अन्य नहीं होने से उसकी उपमा, तुलना किसी अन्य के साथ नहीं घट सकती है । फिर भी अज्ञानियों को बोध कराने हेतु दृष्टान्त द्वारा आंशिकता से ब्रह्म का बोध कराने का प्रयास किया जाता है ।

ग्रन्थ में दी गई कोई भी प्रक्रिया द्वारा या किसी अन्य शास्त्र द्वारा दी गयी प्रक्रिया द्वारा जैसे भी मुमुक्षु को अपने आत्मा का बोध हो सके वही ग्रन्थ, वही प्रक्रिया उसके पक्ष में ठीक है । अर्थात् अन्नमयादिक पंचकोश, जाग्रतादिक तीन अवस्था, स्थूलादि तीन शरीर, 'तत् -त्वम्' पदार्थ शोधन आदि किसी भी प्रक्रिया द्वारा देह संघात् से पृथक् अपने प्रत्यक् आत्मा का ब्रह्म रूप से, देह अपने के नाम, जाति की तरह जिज्ञासु को दृढ़ निश्चय हो जावे यही वेदान्त ग्रन्थों एवं प्रक्रियाओं का परम प्रयोजन है । मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस दृढ़ निष्ठा को

आत्म सक्षात्कार, अपरोक्ष ज्ञान, आत्म दर्शन आदि भी कहते हैं । किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार के लक्ष्य को छोड़कर केवल प्रक्रिया एवं नाना मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन, जीव के एकत्व अनेकत्व, उपादान-निमित्त, के पक्ष को लेकर विवाद मात्र करना कर्तव्य नहीं है । तात्पर्य यही है कि द्रष्टा-दृश्य रूप में वर्णन समस्त प्रक्रियाओं का यही प्रयोजन है कि जिज्ञासु उन-उन जाने हुए समस्त विषयों से अपने को अलग करता चला जाये एवं समस्त दृश्य जगत का निषेध कर उस निषेध ज्ञान का भी साक्षी रूप से जो बच रहे वही अपना वास्तविक ब्रह्मात्म रूप समझे ।

वेद में जीवों के मोक्षार्थ तीन कांडों की व्यवस्था की है । कर्मकांड जीव के मल दोष को, उपासना कांड जीव के विक्षेप दोष को तथा ज्ञान कांड जीव के अज्ञान आवरण दोष को दूर करता है । ऐसे मल तथा विक्षेप दोनों दोष जिसमें नहीं हैं और केवल एक अज्ञान आवरण दोष ही शेष है वही विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता इन चार साधन युक्त जिज्ञासु इस ग्रन्थ का विशेष रूप से अधिकारी है । आत्मज्ञान के द्वारा मुमुक्षु का तीसरा दोष दूर होकर मोक्ष स्थिति का अनुभव हो जाता है । ज्ञान की उत्पत्ति में तो कर्म एवं उपासना सहयोगी एवं परम आवश्यक साधन हैं, किन्तु अज्ञान के नाश करने में तो एक मात्र ज्ञान ही साधन है । जैसे अंधकार की निवृत्ति बिना प्रकाश के किसी भी अन्य साधन से नहीं हो सकती है उसीप्रकार बिना आत्मज्ञान के अज्ञान अनेकों प्रकार के साधन करने पर भी निवृत्त नहीं हो सकता है ।

अनादि काल के संसार प्रवाह में इस जीव ने आजतक सभी प्रकार की उपासना की किन्तु इसने ब्रह्म की आत्मा रूप से, मैं रूप से, सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि रूप से एकत्व उपासना नहीं की । जिस जन्म में यह ब्रह्म को आत्मा रूप से, मैं रूप से, 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्' 'अहं ब्रह्मस्मि' रूप से एकत्व निश्चय करता है तभी इसका जन्म-मरण रूप दुःख दूर होता है । अन्यथा किसी भी जन्म में किसी अन्य साधन से मुक्त नहीं हो सकेगा ।

भेद सदा भय को देने वाला है ऐसा श्रुति कहती है "द्वितीया द्वै भयं भवत्ति" अर्थात् अपने आत्मा से परमात्मा को पृथक् मानकर उपासना करने वाला ब्रह्मलोक, गोलोक, विष्णुलोक, साकेतलोक, कैलाशलोक जाकर सृष्टि प्रलय काल में नष्ट होकर पुन : सृष्टि काल में संसार के प्रवाह में आते हैं। इस प्रकार उनके दु:खों का आत्यान्तिक निवृत्ति, कर्म तथा भेदोपासना द्वारा नहीं होती है । श्रुति में तो स्पष्ट कहा है कि-

**परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो**
**निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।**

- मुण्डक उपनिषद् १ - २-१२

अर्थात् अपना कल्याण चाहने वाले जिज्ञासु को चाहिये कि कर्मों तथा उपासना द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लोकों एवं फलों का विवेक द्वारा अच्छी तरह बोध कर लेना चाहिये कि वे सब अन्त वाले ही हैं । जैसे खेत में उत्पन्न फसल वर्ष बाद समाप्त हो जाती है वैसे ही कर्मों का फल जो भी होता है वह सब नाशवान् ही होता है । उपासना भी मानसिक कर्म होने से उसका फल भी स्थूल कर्मवत् नाशवान ही है । क्योंकि अनित्य कर्मों द्वारा असाध्य किन्तु नित्य स्वतः सिद्ध ऐसे नित्य तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती है ।

**चित्तस्य शुद्धिकर्म न तु वस्तुपलब्धये ।**
**वस्तु सिद्धिः विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ॥**

- विचार चूडामणी : ११

कर्म तो मात्र चित्त शुद्धि हेतु ही परम आवश्यक साधन है तत्त्व प्राप्ति हेतु नहीं है । तत्त्व प्राप्ति तो एक मात्र ज्ञान से ही होती है करोड़ो कर्म द्वारा नहीं। अत: देह से लेकर ब्रह्मलोक तक के सुख भोग को नश्वर जान उनसे वैराग्य लेकर इस ब्रह्मज्ञान के लिये किसी श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान कराने वाले सत्गुरु के निकट हाथ में समिधा लेकर जाना चाहिये । जो वेदों के तात्पर्य को भली - भाँति

जानते हों एवं परब्रह्म का आत्मा रूप से जिनका निश्चय, बोध, हो वे ही सत्गुरु कहलाते हैं । केवल दाड़ी, मूंछ, जटा बढ़ाने वाले अथवा दाढ़ी, मूछ मुंडवाने वाले, भगवा, केशरी, जोगिया वस्त्र धारण करने वाले एवं कंठी, तिलक, माला, छापा, मुद्रांकित, त्रिशुल, लिंगोट धारण करने वाले, शिष्यों के कान फूँकने वाले सभी भेदवादी, गुरु कहलाने योग्य नहीं है । अतः अपने अज्ञान दोष की निवृत्ति हेतु आत्म ज्ञान का ही एक मात्र अवलम्बन ग्रहण करें एवं जन्म मरण के बन्धन से सदा के लिये मुक्त होने का परम पुरुषार्थ करें ऐसा ही पाठक जिज्ञासुओं से मेरा अनुरोध है ।

इस ग्रन्थ का यही परम प्रयोजन है कि जीव को समस्त दु:खों के मूल कारण स्वरूप अज्ञान की स्वरूप ज्ञान द्वारा निवृत्ति कराकर ब्रह्मरूप में स्थिति करा देना है । अस्तु स्वयं लाभ उठाकर अपने अन्य भाई-बहनों को भी इस आत्म ज्ञान के परम पावन मार्ग में प्रोत्साहित कर अमृतत्त्व का पान कराने का अवसर प्रदान करेंगे ऐसी मैं आप सभी जिज्ञासुजनों से आशा करता हूँ ।

स्वामी निरंजन

# अनुबन्ध

(१) यहाँ जीव - ब्रह्म की एकता के वर्णन से अद्वैत ज्ञान इस ग्रन्थ का विषय है ।

(२) जीव ब्रह्म रूप से जाना जाता है और यह शास्त्र उन्हें भली प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहम्' 'सोऽहम्' रूप से जनवाता है । यह प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है ।

(३) मल तथा विक्षेप दोष से रहित आवरण दोषयुक्त अद्वैत ज्ञान का अभिलाषी मुमुक्षु ही इस ग्रन्थ का अधिकारी है।

(४) अनादि काल के देहाध्यास से मुक्ति दिलाकर स्व - स्वरूप आत्मभाव में ब्रह्मनिष्ठा करा जीव को जन्म - मरण की भ्रान्ति से सदा के लिये मुक्ति दिलाकर अखंडानंद की अनुभूति कराना ही इस ग्रंथ स्वाध्याय का प्रयोजन अर्थात् फल है ।

# आशीर्वाद

स्वामी निरंजन का मुख्य उपदेश आत्म विचार है । आपका कहना है कि नाना शास्त्रों के मतों को खंडन- मडंन करने की अपेक्षा आत्मा को जानने की चेष्टा करो। व्यर्थ में इधर -उधर तीर्थ, मन्दिर में भटकने या मन कल्पित देवी, देवताओं की पूजा उपासना करने से ''मैं कौन हूँ'' ? का विचार जाग्रत नहीं होता है । ''मैं कौन हूँ ?'' का विचार ही भव बन्धन से छूटने का सर्वाधिक एवं अत्यन्त अनिवार्य साधन है । यह आत्मा सरलतम वस्तु ही स्वरूप अज्ञान के कारण कठिनतम-सी हो गयी है । अज्ञानता के कारण हम अपने को द्रष्टा आत्मा साक्षी रूप न जान दृश्य देह के साथ मिल देह रूप ही अपने को जानने लग गये हैं ।

''मैं कौन हूँ ?'' की खोज अथवा विचार ही मोक्ष प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है एवं ''मैं ब्रह्मात्मा हूँ'' यही सबसे बड़ा मंत्र एवं सिद्धि है । जो मुमुक्षु इस ब्रह्म विचार का मार्ग अपनाते हैं उनके लिये अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है ।

' मेरी मुक्ति कब होगी ?' यह विचार ही मुक्ति में बाधक है । वस्तुतः हमें मुक्त होना नहीं है, न मुक्त होने का कोई साधन ही है; क्योंकि मैं नित्य मुक्त ही हूँ, केवल बन्धन की भ्रान्ति से ही जीव को मुक्त होना है । इस भ्रान्ति से मुक्त होने हेतु ही आत्म विचार 'मैं कौन हूँ' का विचार प्रमुख साधन है ।

स्वामी निरंजन वेदान्त साररूप सदैव एक ही बात कहते हैं तुम तो द्रष्टा, साक्षी, असंग, निर्विकार निष्क्रिय ब्रह्म हो, शेष सभी विचार, दृश्य एवं कल्पित है । अत : तुम ज्यों के त्यों, जहाँ के तहाँ अत्मा ही हो । मुक्ति हेतु गृह छोड़ बन की ओर भागने की आवश्यकता नहीं है । अपनी नौकरी, व्यापार, शिक्षा, समाज छोड़कर एकान्त गुफा में बैठ प्राणों के साथ बलात्कार करने की भी आवश्यकता नहीं है । प्राणी मात्र एवं परिवार के लोगों से प्रेम करो, प्रेम से जीओ । परमात्मा इन सभी में

बुद्धि के साक्षी बनकर विराजमान् है । परमात्मा सबमें हैं, सबके हैं, सब समय हैं एवं समान हैं । बस तुम अपने को देह, इन्द्रिय, मन के अहंकार से मुक्त कर लो । तुम द्रष्टा, साक्षी, आत्मा ही हो एवं रहोगे । शान्ति को बाहर न ढूँढो । शान्ति को खोजने में अपने को ही अशान्त मत बना लेना इतना याद रखो ! जहाँ तुम चलकर पहुँचना चाहते हो वहां तुम प्रथम से ही खड़े हो एवं साधनों द्वारा जिसे पाना चाहते हो वह तुम स्वयं ही हो । अब तुम्हे न कहीं पहुचना है न कुछ पाना है । आप स्वयं शान्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनंद, आत्मा ही हो ।

स्वामी जी के पास जो भी श्रद्धा पूर्वक अपने कल्याण की चाह से या मन को वश में करने का साधन पूछने जाता है तो वे उसे सरल प्रक्रियाओं एवं दृष्टान्तो द्वारा उपरोक्त शुद्ध वेदान्त विचार में ही निष्ठा कराते हैं । वे निष्ठा कराने में द्वैत विचार को तनिक भी स्थान नहीं देते हैं यह उनके समझाने की अद्भूत अनुपम कला है ।

इस 'सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी' ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण, अनमोल हीरा,पारसमणि, अमृत की घूँट सदृश्य ही है । इसमें कोई भी वाक्य अथवा प्रश्नोत्तर व्यर्थ नहीं है । आप इसे पढ़ें, समझें एवं तदानुसार अपने निश्चय में लें आवे । यह ग्रन्थ सभी वेदान्त ग्रन्थों एवं उपनिषदों के संक्षिप्त सार तत्त्व के रूप में है । ग्रन्थ का प्रमुख विषय 'मैं कौन हूँ ?' का विचार है एवं जिसका फल ब्रह्मानुभूति 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्, शिवोऽहम्' निष्ठा द्वारा कैवल्य मोक्ष अनुभव कराना है ।

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक उपयोगिता उन्हीं लोगों के लिये होगी जो अपने को सभी साधनों से थकाकर ब्रह्मानुभूति से निराश हो बैठे हैं, उन्हें तो यह ग्रन्थ अचूक संजीवनी बूटी महामृत्युजंय समान ही होगा ।

**स्वामी परमानन्दजी**

**अखंड परमधाम, रानी की गली**

**सप्त सरोवर,हरिद्वार**

# सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी

## भाग-१
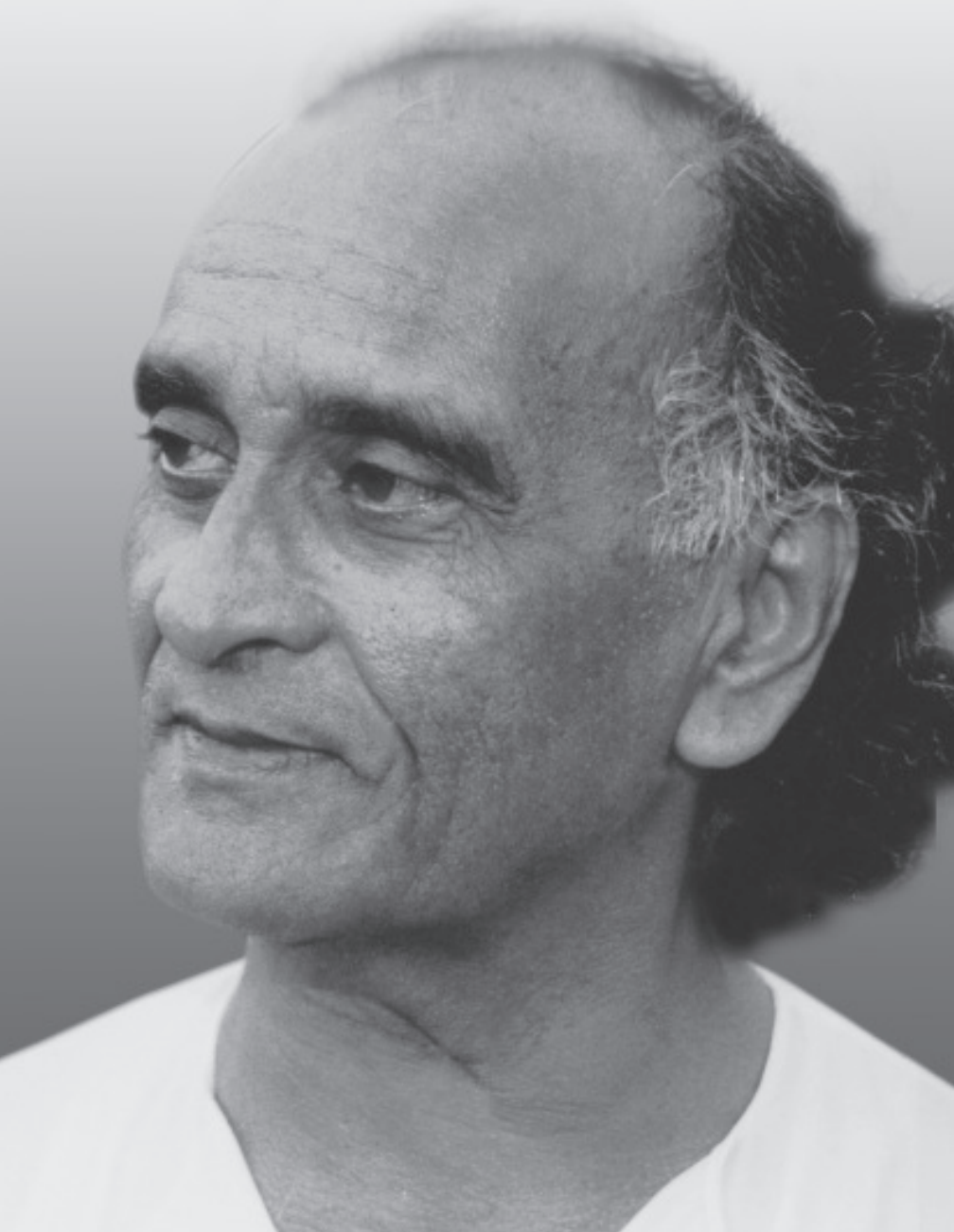
**प्रश्न १ - जिज्ञासु - उत्तम शास्त्र के क्या लक्षण होते हैं ?**

**उत्तर-** विद्वानों का कहना है कि अधिकारी पुरुष अनुबंध जाने बिना किसी पुस्तक के पठन - पाठन में प्रवृत्त नहीं होते हैं । अनुबंध जानने के बाद ही प्रवृत्त होते हैं । अनुबंध अधिकारी, सम्बध, विषय तथा प्रयोजन इन चार को मिलाकर कहलाता है ।

**प्रश्न २ - जिज्ञासु - अधिकारी किसे कहते हैं ?**

**उत्तर-** जिसके अन्तः करण में मल, विक्षेप ऐसे दो दोष तो नहीं हैं परन्तु एक अज्ञान दोष है ऐसा उत्तम जिज्ञासु ही मोक्ष का अधिकारी है अर्थात् जीव के अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं - मल, विक्षेप और आवरण । निष्काम कर्म से अन्तःकरण का मल दोष दूर होता है, उपासना से विक्षेप दोष दूर होता है और ज्ञान से अज्ञान (आवरण) दोष दूर होता है । जिस पुरुष ने निष्काम कर्म तथा उपासना इस जन्म में या इस जन्म के पूर्व करके मल तथा विक्षेप दोष को दूर कर चुका है और उसके चित्त में केवल एक अज्ञान (स्वरूप का आवरण) बाकी है तथा वह साधन चतुष्टय भी है ऐसा पुरुष ही अधिकारी है । अथवा जिसमें चोरी, जारी, हिंसा यह तीन शरीर के दोष न हो, निन्दा, झूठ, कठोरता तथा वाणी की चपलता यह वाणी के चार दोष और तृष्णा, चिन्ता और बुद्धि की मन्दता यह मन के तीन दोष न हों ऐसा पुरुष ही शास्त्र द्वारा मोक्ष का अधिकारी माना जाता है । (नृसिंह तापिनी उपनिषद)

**प्रश्न ३ - साधन चतुष्ट्य किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता इन चार साधनों को कहते हैं ।

**विवेक -** आत्मा नाश रहित है और क्रिया रहित अचल है । यह रूप समस्त दृश्य जगत आत्मा से प्रतिकूल विनाशी और चल है । ऐसे ज्ञान का नाम विवेक है एवं यही सब साधनों का मूल है क्योंकि विवेक बिना वैराग्यादि साधन नहीं आते हैं ।

**वैराग्य** - इस देह के सांसारिक सुख भोग से लेकर विष्णु लोकादि तक के अधिष्ठान देवता तथा वहाँ के सुख भोग की इच्छा न रखने का नाम ही वैराग्य है ।

**षट्सम्पत्ति** - शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरामता तितिक्षा के समूह को कहते हैं ।

**(१) शम** - सत्संग में मन से विषय चिन्तन नहीं करने का नाम शम हैं ।

**(२) दम** - सद्गुरु के सम्मुख सत्संग में बैठ इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकने को दम कहते हैं ।

**(३) श्रद्धा** - सद्गुरु तथा सत्शास्त्र में अपने कल्याण व उनके द्वारा प्राप्त उपदेश पूर्ण विश्वास का नाम श्रद्धा है कि यह शास्त्र प्रमाणो द्वारा ब्रह्मात्मा की एकता बताते हैं एवं हमारे कल्याण करने वाले हैं ।

**(४) समाधान** - सत्गुरु के उपदेश के समय श्रवण करते समय मन में विक्षेप न रहने को समाधान कहते हैं ।

**(५) उपरामता** - सत्संग में बैठने के समय । वहाँ स्त्री, पुरुष, धन, जाति अभिमान आदि सामग्री सहित सब कर्मों का त्याग करना, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों को विष के समान समझकर उन से दूर रहना उपरामता कहाती है ।

**(६) तितिक्षा** - गर्मी-सर्दी, भूख - प्यास, अपमान, निन्दा जो भी लक्ष्य प्राप्ति में विघ्न रूप आवें उन्हें सहन करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ते चलना तितिक्षा कहलाती है ।

षट्सम्पत्ति के अन्तर्गत ही यह छहों साधन हैं पृथक् नहीं है, क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक हैं जैसे बिना खिड़की, द्वारा बन्द किये दृष्टि को कमरे से बाहर जाने से रोका नहीं जा सकता वैसे ही बिना शम के दम नहीं हो सकता । जैसे लगाम रोके बिना घोड़ा नहीं रुकता । बिना

शम के समाधान (चित्त की एकाग्रता) नहीं हो सकती । इसी प्रकार दमादि भी सभी के पूरक हैं, किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती है ।

**(४)** मुमुक्षुता ब्रह्म प्राप्ति और बंध (अनर्थ) की निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है ऐसी स्थिति की चाह ही मुमुक्षुता है ।

उपरोक्त चार साधन सपन्न ही ज्ञान प्राप्त करने हेतु सत्गुरु के निकट बैठने का तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन और 'तत्' पद, 'त्वं' पद के अर्थ का शोधन रूप आठवाँ साधन द्वारा मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है । ज्ञान के उपरोक्त आठ अन्तरंग साधन हैं तथा निष्काम कर्म एवं उपासना ज्ञान के बहिरंग साधन हैं । मुमुक्षु को चाहिये कि बहिरंग साधनों को छोड़कर अन्तरंग साधनों को अपनावे । विवेकादि चार साधनों का श्रवण में और श्रवणादिक चार साधनों का ज्ञान में सीधा उपयोग होने से ये आठ अन्तरंग साधन कहे जाते हैं । दूर के सम्बन्धित साधन को बहिरंग तथा नजदीक के साधन को अंतरंग कहते हैं । जिनका ज्ञान में या श्रवण में सीधा प्रत्यक्ष फल तो नहीं किन्तु अन्तःकरण शुद्धि तथा एकाग्रता में उपयोग है वे बहिरंग साधन हैं । और विचार से देखेंगे तो श्रवणादिक भी ज्ञान के अन्तरंग साधन नहीं हैं, बल्कि ज्ञान के अन्तरंग साधन तत्त्वमसि आदि महावाक्य ही हैं ।

**प्रश्न ४ - श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा महावाक्य शोधन का स्वरूप क्या है ?**

**उत्तर** - युक्ति से वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य से निश्चय करना ही श्रवण है ।

जीव और ब्रह्म के अभेद की साधक युक्तियों और भेद को बाधक युक्तियों से अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन ही मनन है ।

अभेद की साधक युक्तियाँ तीन हैं । **(१)** अनुमान, **(२)** उपमान, **(३)** अर्थापत्ति ।

**(१) अनुमान -** जीव ब्रह्म से अभिन्न है सच्चिदानन्द रूप होने के कारण, क्योंकि जो सच्चिदानन्द स्वरूप है वह ब्रह्म से अभिन्न है । यहाँ जीव पक्ष है ब्रह्माभिन्न साध्य है तथा सच्चिदानन्द रूपता हेतु है और ईश्वर दृष्टान्त है ।

**(२) उपमान** - जैसे घट, मठ आदि उपाधियों को छोड़ देने से घटाकाश और मठाकाश में भेद नहीं रह जाता है । वैसे ही बुद्धि द्वारा अविद्या और माया दोनों उपाधियों को छोड़ देने से ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं रह जाता है बल्कि दोनों अभिन्न ही अनुभव में आते हैं ।

**(३) अर्थापत्ति -** 'नेह नानास्ति किंचन', इत्यादि श्रुतियों ने भेद का निषेध किया है और भेद निषेध तभी बन सकेगा जब वास्तव में अभेद ही होगा ।

इस प्रकार यह तो अभेद की साधक युक्तियाँ हैं जिनसे जीव ब्रह्म के अभेद का चिन्तन करना है तथा भेद की बाधक युक्तियाँ भी चार हैं **(१)** अनुमान **(२)** उपमान **(३)** अर्थापत्ति तथा चौथी अनुपलब्धि । उनका चिन्तन का प्रकार इस तरह है -

**(१) अनुमान -** जीव ब्रह्म का भेद मिथ्या है, क्योंकि औपाधिक है । जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद मिथ्या है । यहाँ भेद पक्ष, मिथ्यापन साध्य तथा औपाधिकत्व हेतु (कारण) और घटाकाश - मठाकाश दृष्टान्त है ।

**(२) उपमान -** जैसे बिम्ब - प्रतिबिम्ब का भेद, घटाकाशों का परस्पर भेद, स्वप्न के पदार्थों का मिथ्या भेद, वैसे ही जीव जड़ का भेद मिथ्या है । जैसे साक्षी और स्वप्न प्रपंच का भेद मिथ्या है, वैसे ही ईश्वर और जड़ का भेद भी मिथ्या है । जैसे - रज्जु में कल्पित सर्प तथा दंड का भेद मिथ्या है वैसे ही जड़ पदार्थों का भेद परस्पर मिथ्या ही है ।

**(३) अर्थापत्ति -** महावाक्यों में कहा हुआ जीव ब्रह्म का अभेद प्रतीयमान भेद के मिथ्यापन के बिना नहीं बन सकता अतः जीव ब्रह्म का भेद मिथ्या है।

**(४) अनुपलब्धि -** उपाधियों के रहने पर जाग्रत और स्वप्न में जीव ब्रह्म का भेद प्रतीत होता है, उपाधियोंके न रहने पर सुषुप्ति में भेद प्रतीत नहीं होता है। अतः जीव ब्रह्म का पारमार्थिक भेद नहीं है । इस प्रकार उपरोक्त भेद की बाधक युक्तियों से जीव ब्रह्म का अभेद निश्चय करना मनन कहलाता है ।

अनात्माकार वृति के व्यवधान से रहित ब्रह्माकार वृति की स्थिति ही निदिध्यासन है ।

मैं देह नहीं हूँ, स्थूल, सूक्ष्म, कृश, ह्रस्व, दीर्घ, वर्णाश्रमादि रूप नहीं हूँ अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह के धर्म से रहित मानना ही अनात्माकार वृति के व्यवधान से रहित माना जाता है तथा -

मैं प्रत्यक् आत्मा, द्रष्टा, साक्षी, सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजन्मा, अक्रिय, असंग अद्वितीय ब्रह्मरूप हूँ । इस प्रकार के चिन्तन या निश्चय के प्रवाह को बाह्माकार वृत्ति की स्थिति व निदिध्यासन कहलाती है । और इसी आत्म स्वरूप का निःसंदेह अपरोक्ष अनुभव रूप ही आत्म साक्षात्कार कहलाता है । अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का जो प्रकाशक है वह साक्षात् अपरोक्ष आत्मा मैं हूँ ।

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा संशय रहित दृढ़ अनुभव को ही आत्म साक्षात्कार कहते हैं ।

निदिध्यासन में आत्माकार वृत्ति प्रयत्न साध्य रहती है, किन्तु जब साक्षात्कार हो जाता है फिर वह स्वतः झुके हुए धनुष की तरह स्थिर हो जाती हे । बारम्बार आत्माकार वृत्ति हेतु प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, किन्तु साक्षात्कारवान को आत्माकार वृति कदाचित प्रारब्धवश न रहे तो

भी उसे पश्चाताप नहीं रहता किन्तु निदिध्यासन वाले को वृत्ति भंग होने पर पश्चाताप होता है । इतना ही भेद है साक्षात्कारवान तथा निदिध्यासनवान का ।

निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था ही समाधि है इसीलिये समाधि का निदिध्यासन में अन्तर्भाव है समाधि के लिये अलग साधन नहीं है । समाधि की भी दो अवस्था है । परिपक्व तथा अपरिपक्व । अपरिपक्व अवस्था को सविकल्प समाधि कहते हैं तथा परिपक्व अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहते हैं । सविकल्प समाधि की परिपक्व अवस्था निर्विकल्प समाधि है उसकी प्राप्ति हेतु अन्य साधन नहीं करना पड़ता । उस समाधि का अभ्यास इस प्रकार किया जाता है -

प्रथम वृत्ति अर्थात् मैं देह हूँ तथा कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी हूँ यह वृत्ति या शब्द, स्पर्शादि विषयों की स्मरण रूप जो वृत्ति उसका त्याग कर दूसरी - वृत्ति जो देहादिक में अहंता, ममता रूप अथवा शब्दादिक विषयों के स्मरण रूप से उसे नहीं उठने देना और दोनों वृत्तियों के मध्य के खालीपन को बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये । वही निर्विकल्प (कल्पना रहित) अपना स्वरूप स्वयं प्रकाश है । उसमें स्थिति रूप दशा का अभ्यास करते रहना चाहिये अर्थात् प्रथम सविकल्प समाधि का अभ्यास करके फिर निर्विकल्प समाधि का अभ्यास नित्य निरंतर करते रहना चाहिये ।

सविकल्प समाधि के भी दो भेद हैं - दृश्यानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध ।

**दृश्यानुविद्ध समाधि -** अन्त:करण में काम, संकल्प, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, भय आदि जितनी भी सात्विक वृत्तियाँ तथा कितनी राजसिक, तामसिक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे सर्व दृश्य हैं और उन सब वृत्तियों का द्रष्टा में साक्षी चैतन्य रूप हूँ इस प्रकार अनुसंधान पूर्वक जो सदा आत्मा का अनुभव किया जाता है वह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहलाती है ।

**शब्दानुविद्ध समाधि** - मैं असंग हूँ याने देह इन्द्रियों अन्तःकरणदिक में मैं हूँ तथापि उनका मुझे संग नहीं है । जैसे घृत, तेल, चन्दन और कीचादि में आकाश रहने पर भी उनमें लिपायमान नहीं होता है । मैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में भी हूँ इसीलिये "सत्" हूँ । इन तीनों अवस्थाओं को मैं जानता हूँ इसलिये "चित्" (चैतन्य ज्ञान स्वरूप) हूँ तथा मैं परमप्रेम का आस्पद हूँ इसीलिए "आनन्द" स्वरूप हूँ । इस प्रकार मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ । मैं असंग हूँ । द्वैत प्रपंच का सम्बन्ध मुझमें नहीं है क्योंकि द्वैत कल्पित है । इस प्रकार की सजातीय या ब्रह्माकार वृत्ति का शब्द उच्चारण पूर्वक अपने आत्मस्वरूप में असंग, अद्वैत, सत, चित, आनन्द, स्वयं प्रकाश आदि विशेषणों का अनुभव करने को सविकल्प शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं ।

**निर्विकल्प समाधि** - दृश्यानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध इन दोनों समाधियों का भली प्रकार अभ्यास करके जब अन्तः करण में आनन्द रूप आत्मा के ज्ञानानन्द के अनुभव के आवेश से काम, संकल्प आदि दृश्य वृत्तियाँ का अनुसंधान छोड़ तथा मैं असंग हूँ सत् चित आनन्द स्वयं प्रकाशादि हूँ इन शब्दों के उच्चारण को भी छोड़ संकल्प रहित तुष्णीरूप (मौन) जो स्थिति है वह निर्विकल्प समाधि कहलाती है । जिस तरह वायु रहित स्थान में दीपक स्थिर निश्चल रहता है उसी प्रकार इस समाधिवान का चित्त निश्चल रहता है याने इसे द्वैत प्रपंच नहीं भासित होता । उसे यह निश्चय हो जाता है कि जितने विकल्प हैं सब अन्तःकरण में ही हैं और "मैं आत्मा स्वभावसे ही निर्विकल्प हूँ" और मैं आत्मा अन्तःकरण के किसी विकल्प से सविकल्प नहीं होता हूँ । ऐसा संशय रहित ज्ञान पाने के लिये मुमुक्षु को श्रद्धापूर्वक किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सत्गुरु के शरण में जाकर वेदान्त शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके चैतन्य समाधि का अभ्यास करना चाहिये ।

**तत, त्वम्पदार्थ शोधन** - वेदों के महावाक्यों में जीव तथा ब्रह्म की जो एकता सिद्ध की है उसमें जो उपाधिगत प्रत्यक्ष भेद दिखता है

उस 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों में से विरोधी अंश को छोड़कर अविरोधी अंश जो जीव ब्रह्म की एकता याने एक अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व है उसे ग्रहण करना ही 'तत, त्वम्' पदार्थ शोधन है । जैसे - स्वर्णाकार यंत्र में रखकर तेजाबादि के द्वारा स्वर्ण का शोधन करता है या हंस अपनी चोंच से दुग्ध सार वस्तु को ग्रहण करता है वैसे ही साधक भागत्याग लक्षणा द्वारा अविद्या उपाधि तथा माया उपाधि के चिदाभास में जो विरोधी धर्म हैं उन्हें छोड़ एक अभिन्न, शुद्ध चैतन्य तत्त्व को ही ग्रहण करता है ।

**प्रश्न ५- क्या श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के बिना जीव की मुक्ति नहीं हो सकती ?**

**उत्तर -** मोक्ष की उत्पत्ति के लिये वेदान्त श्रवणादि साधन नहीं है किन्तु ''आत्मा नित्य मुक्त है'' ''कोई भी मुक्ति हेतु कर्तव्य नहीं'' यह बात जानने हेतु ही श्रवणादिक की जरूरत है । ऐसे जान लेने से मोक्ष प्राप्ति हेतु कर्तव्यता की भ्रान्ति दूर हो जाती है । पंचदशीकार श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी अपने तृप्ति दीप प्रकरण ७ के २६० श्लोक में कहा है कि जिसे तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है या जो अपने आत्म स्वरूप को ब्रह्म से अभिन्न नहीं जानता है ऐसा अज्ञानी ही वेदान्त श्रवण करे किन्तु सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि रूप अपने को जानता हुआ मैं क्यों श्रवण करूँ ? और जिसे आत्मस्वरूप में भ्रान्ति है अर्थात् ब्रह्म से आत्मा भिन्न है या अभिन्न है, इस प्रकार संशय से युक्त पुरुष ही मनन करे । पूर्वक्त संशय से रहित मैं क्यों मनन करूँ? अर्थात अज्ञान के अभाव से श्रवण, मनन का कर्ता भी मैं नहीं हो सकता । और जिसे स्वरूप के प्रति विपरीत ज्ञान हो अर्थात् जो अपने को देह रूप मानता हो, ऐसे विपरीत ज्ञान वाला अज्ञानी पुरुष ही अपने देहाध्यास को दूर करने हेतु निदिध्यासन करे । विपरीत ज्ञान के अभाव से मुझे निदिध्यासन करना भी निष्फल है । क्योंकि देह आत्मा है, यह जो विपरीत ज्ञान है उसको मैं कदाचित् भी नहीं प्राप्त होता हूँ अर्थात् मुझे कभी भी आत्मा से भिन्न देह भाव नहीं होता है ।

अस्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं किन्तु असम्भावना तथा विपरीत भावना नामक जो बुद्धि के दोष हैं उनके नाशक हैं । संशय का नाम असम्भावना है और शुद्धात्मा को कर्ता भोक्ता समझने का नाम विपर्यय याने विपरीत भावना है । ये दोनों ज्ञान के प्रतिबंधक अर्थात् रुकावट डालने वाले है । इसीलिये ज्ञान के प्रतिबन्धक का नाश करने के लिये श्रवणादिक साधन कहे हैं, ज्ञान या मोक्ष के श्रवणादि साक्षात् हेतु, साधन नहीं है ।

**(१)** श्रवण करने से प्रमाणगत सन्देह दूर होता है याने वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या किसी अन्य के ? यह प्रमाणगत सन्देह है ।

**(२)** मनन करने से प्रमेयगत संन्देह दूर होता है याने जीव ब्रह्म का अभेद सत्य है या भेद सत्य है ? यह प्रमेयगत सन्देह है । इन दोनों संशय को असंभावना कहते हैं ।

**(३)** निदिध्यासन से विपरीत भावना दूर होती है याने देहादि सत्य है और जीवब्रह्म का भेद भी सत्य है ऐसा ज्ञान विपरीत ज्ञान है । इसी का दूसरा नाम विपर्यय भी है ।

**प्रश्न ६ - तत्त्व ज्ञान के साक्षात् साधन क्या हैं ?**

**उत्तर -** ज्ञान के साक्षात् साधन आत्म सम्बन्धी वेदान्त वाक्य हैं । वे दो प्रकार के हैं । एक अवान्तर वाक्य और दूसरा महावाक्य ।

**अवान्तर वाक्य -** परमात्मा के अथवा जीव के स्वरूप के बोधक वाक्य को अवान्तर वाक्य कहा जाता है । अवान्तर वाक्य से असत्वापादक आवरण की निवृत्ति होती है । ''ब्रह्म नहीं है'' इस प्रकार असद्भाव के आवरण को असत्वापादक आवरण कहते हैं । वह भ्रम अवान्तर वाक्य से दूर हो जाता है । अत: अवान्तर वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है । जो ब्रह्म नहीं है ऐसा भान था उसकी जगह ''ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है'' ऐसा परोक्ष बोध हो जाता है । और अपरोक्ष ज्ञान का सहायक भी है । श्रोता के कान से वाक्य का सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान नहीं होता है

इसीलिये श्रोत्र सम्बन्धी अवान्तर वाक्य ही परोक्ष ज्ञान का तथा महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है ।

**महावाक्य -** जीव और परमात्मा की एकता के बोधक वाक्यों को ही महावाक्य कहते हैं। गीता, रामायण, भागवत, पुराणादिको में भी जीव ब्रह्म एकत्व दर्शाने वाले वाक्य, महावाक्य ही माने जाते हैं। महावाक्य से अभानापादक आवरण दूर होता है याने मैं ब्रह्म को नहीं जानता ऐसे अज्ञान आवरण को अभानापादक आवरण कहते हैं । वह महावाक्य से दूर होकर ''मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ ''ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होता है । गुरु द्वारा ''तू ब्रह्म है'' यह महावाक्य सुनते ही उत्तम अधिकारी को ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा दृढ़ बोध हो जाता है ।

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान समस्त अविद्या के समूह को नाश करने वाला है । **(क)** मैं ब्रह्म को नहिं जानता हूँ यह अज्ञान **(ख)** ब्रह्म नहीं और उसका भान नहीं होता यह आवरण और **(ग)** मैं ब्रह्म हूँ, किन्तु पुण्य-पाप का कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी जीव हूँ । इस प्रकार अविद्या का जो यह समूह है उसका नाश केवल वेदान्त महावाक्य का श्रोत्र सबन्ध से अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही होता है ।

इस प्रकार अज्ञान की दो शक्ति है -

**(१)** असत्वापादक और **(२)** अभानापादक ।

**असत्चापादक -** ''वस्तु नहीं'' ऐसी प्रतीति कराने वाली अज्ञान की असत्वापादक शक्ति है ।

**अभानापादक -** ''वस्तु का प्रतीति नहीं होती'' ऐसा बोध कराने वाली अज्ञान की शक्ति को अभानापादक शक्ति कहते हैं ।

इस प्रकार असत्वापादक तथा अभानापादक दोनों आवरणों की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान द्वारा क्रम से होती है ।

अपरोक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का है - एक अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान और दूसरा दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान ।

असम्भावना और विपरीत भावना सहित जो ब्रह्मात्मा के एकता का निश्चय होता है वह अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान कहलाता है ।

असम्भावना और विपरीत भावना रहित जो ब्रह्मात्मा की एकता का निश्चय होता है वह दृढ़ ब्रह्मज्ञान कहलाता है ।

मोक्ष प्राप्ति में अपरोक्ष दृढ़ ब्रह्मज्ञान ही हेतु है । तथा अदृढ़ अपरोक्षज्ञान से उत्तम लोक की प्राप्ति और पवित्र कुल में जन्म होता है या निष्कामता के कारण ज्ञानी पुरुष के कुल में जन्म होता है । वहाँ उसे पहले जन्म वाले शरीर में किये साधनों के फलस्वरूप अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान बुद्धि मे प्राप्त हो जाने से फिर अच्छी प्रकार से प्रयन्त करके एक या दो जन्मों में स्वरूप स्थिति याने दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है । ऐसा अभ्यासी साधक प्रारब्ध से भोग में फँस जावे तो भी समय पाकर पूर्व जन्म की साधना बुद्धि उसे फिर इस जन्म में आगामी साधना में आकर्षित कर लेती है ।

अन्तिम जन्म में ही याने प्रारब्ध शेष होने पर ही ज्ञान होता हैं एवं ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है । किसी किसी को श्रवणादि ज्ञान के साधन करने पर भी प्रारब्ध भोग के कारण ज्ञान नहीं हो पाता है । वामदेव, शुकदेव, ध्रुवादि इसी प्रकार अपने प्रारब्ध को एक व दो जन्मों में पूर्ण कर पूर्व जन्म में किये श्रवणादिक के प्रताप से बिना गुरु किये ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हुए है । इसका यह मतलब नहीं कि बिना गुरु के ज्ञान हुआ था । गुरु तो पूर्व किया ही था व ज्ञान के साधन श्रवणादि भी किये थे किन्तु ज्ञान के प्रतिबंधक होने से ज्ञान दृढ़ नहीं हो पाया था एवं अन्तिम देह में ज्ञान के प्रतिबंध हटते ही ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

**प्रश्न ७ - अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान किस कारण होता है ?**

**उत्तर -** अन्तःकरण में कुछ मल, विक्षेप दोष के रहते ही किसी को वेदान्त श्रवण का संयोग मिल जावे तो उसे दृढ़ज्ञान नहीं होता है । अथवा नाना प्रकार के मत-मतान्तर श्रुतियों के श्रवण से बुद्धि संशययुक्त हो गई

हो अथवा ब्रह्म की अद्वैतता के सम्बन्ध में असम्भवपने का ज्ञान होने से भी वह अदृढ़ज्ञानी रहता है । अथवा भेदवादी और पामर पुरुषो का संग बहुत होने से भी भेद के कुसंस्कार के कारण, सद्गुरु द्वारा महावाक्य के श्रवण होने पर भी दृढ़ ज्ञान न होकर अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान ही होता है । किन्तु उपरोक्त प्रतिबन्धक हटते ही गुरु से महावाक्य के अर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप विचार के करने से दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है जिससे अभानापादक आवरण (ब्रह्म भासता नहीं) और विक्षेप (स्थूल सूक्ष्म शरीर के धर्म) सहित अज्ञान की निवृत्ति होकर के ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष का अनुभव हो जाता है ।

**प्रश्न ८ - यह कैसे जानें कि हमें दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान पूर्ण हो चुका है ?**

**उत्तर -** जैसे तत्त्व ज्ञान से रहित पुरुष को अपने देह में ही मैं पने का दृढ़ ज्ञान होता है, देह से पृथक् वह अपने को किसी के लाख कहने पर भी नहीं मानता है और न उसे स्वयं को ही कभी संशय उठता है कि यह देह रूप मैं हूँ या नहीं ? इस प्रकार के मिथ्या दृढ़ ज्ञान की तरह जिसे देह भाव का ज्ञान नष्ट होकर ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में मैं-पन का अडिग ज्ञान हो जाता है तब ही वह पूर्ण दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी होता है ।

**प्रश्न ९ - योग वशिष्ठादि ग्रन्थों में एवं उपनिषदों में विचार करने का ही बार-बार उपदेश है तो वह विचार क्या है ?**

**उत्तर -** आत्मा और अनात्मा को भिन्न-भिन्न करके जानना ही विचार है और विचार से ही दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है । और विचार का विषय (१) मैं कौन हूँ ? (२) ब्रह्म कौन है ? (३) प्रपंच क्या है ? इस तीन वस्तुओं का विचार करना चाहिये । उसमें विचार द्वारा ज्ञात होगा कि मैं और ब्रह्म तो एक चैतन्य घटाकाश महाकाश की तरह है एवं जो प्रपंच माया है वह मिथ्या है, जड़ है ।

**चैतन्य -** जो ज्ञान रूप है और समस्त प्रपंच को जानता है और जिसे मन, बुद्धि आदिक इन्द्रिय या अन्य किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता है ।

**जड़ -** जो स्व-पर के बोध से रहित है वह जड़ कहलाता है । इस विचार का उपयोग इस प्रकार से होता है ।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में स्थित 'त्वं' पद और 'तत्' पद का वाच्य अर्थ जीव और ईश्वर उसकी उपाधि रूप जो प्रपंच है उसकी रस्सी में सर्प की तरह और ठूँठ में चोर की तरह और मरुभूमि में मृगजल की तरह विचार द्वारा मिथ्या जानकर त्याग करना चाहिये । यही प्रपंच के विचार का उपयोग है । और मैं जो (त्वं पद का लक्ष्यार्थ है) आत्मा हूँ वह (तत् पद का लक्ष्यार्थ) ब्रह्म ही है । इस रीति से ब्रह्मात्मा की एकता को जानकर उसमें दृढ़ विश्वास रखना । यह मैं कौन हूँ ? ब्रह्म कौन है ? इस विचार का उपयोग है याने फल है कि 'वह ब्रह्म मैं हूँ ।'

अस्तु ! जिसकी बुद्धि में असम्भावना और विपरीत भावना हो वह श्रवण, मननादि साधनों द्वारा उसकी निवृत्ति करे किन्तु जिसकी बुद्धि में यह दोष नहीं है वह कदापि कर्तव्य रूप न करे । इस रीति से ज्ञान के प्रमुख साधन महावाक्य हैं । श्रवणादिक भी नहीं परन्तु ज्ञान का प्रतिबन्धक जो बुद्धि के दोष हैं उनके नाशक श्रवणादिक साधन हैं इसीलिये उन्हें भी ज्ञान का हेतु कहा है और श्रवणादिक का हेतु विवेक, वैराग्यादि साधन हैं । इसीलिये विवेकादिक साधन को भी ज्ञान के सहायक साधन कहते हैं ।

**प्रश्न १० - विक्षेप दोष दूर करने हेतु ध्यान करना होगा या नहीं ?**

**उत्तर -** प्रारब्ध कर्मों का भोग कर ही नाश होता है और प्रारब्ध क्षय के बिना तो विक्षेप सहस्त्र प्रकार के ध्यान समाधि से भी शान्त नहीं होता । फिर जो व्यवहार को बाधक माने वह साधक विक्षेष निवृत्ति हेतु ध्यान करे । तत्त्वज्ञानी के मत में व्यवहार बाधक नहीं है । तब फिर वह क्यों ध्यान करे ? ज्ञानी की दृष्टि में व्यवहार बाधक नहीं है इसलिये उसे ध्यान समाधि की कर्तव्यता भी नहीं है । क्योंकि विक्षेप तथा समाधि ये दोनों दृश्य मन के विकार हैं तब मन के साक्षी ज्ञानी को समाधि की

क्या आवश्यकता ? कदाचित् कहो कि समाधि का फल अनुभव तो करना चाहिये तो यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य अनुभव (ज्ञान) रूप जो मैं हूँ उस मुझसे पृथक् अनुभव क्या है एवं कौन है ? जिसके लिये समाधि एवं उसका फल अनुभव हेतु चेष्टा करें।

**प्रश्न ११- यदि आत्मज्ञानी प्रारब्धवश कर्मों को करता रहे और आत्मा को अकर्ता जाने तो उसके मोक्ष की हानि होगी या नहीं ?**

**उत्तर** - ऐसा नहीं मानना चाहिये कि आत्मज्ञानी का मोक्ष प्रारब्ध कर्म से रुक जावेगा। क्योंकि लोक का व शास्त्रोक्त व्यवहार अर्थात् भिक्षा, भोजन और जप, समाधि आदि है अथवा हिंसा, चोरी, जारी, व्यभिचार जो व्यवहार है वह कर्ता - भोक्ता से भिन्न साक्षी को किसी भी प्रकार हानि नहीं कर सकता है । भले प्रारब्धनुसार ज्ञानी का मन, विधि-निषेधात्मक कर्म में वर्ते अथवा लोक कल्याणार्थ कर्म भी वह प्राणियों पर अनुग्रह की कामना से करे तो भी आत्मज्ञानी की क्या हानि है ? अर्थात् कुछ नहीं है। ज्ञानी के लिये देव पूजन, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में देह प्रवृत्त हो और वाणी ओंकार को जपे व वेदान्त शास्त्र को पढ़े और बुद्धि विष्णु आदि देवों का ध्यान करे व ब्रह्मानन्द में लय हो तो इन सबका साक्षी स्वरूप वह ज्ञानी न तो कुछ करता है न कराता है । इस प्रकार कर्ता व कर्म उसे किसी प्रकार क्षति नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि वह कर्ता, कर्म से भिन्न है । देह, वाणी, बुद्धि में कर्मों का आग्रह है साक्षी में नहीं है । साक्षी निर्लेप ही होता है । उसमें ही ज्ञानी का आग्रह याने निश्चय होता है । वह देह में आसक्त नहीं होता है ।

**प्रश्न १२ - तत्त्वज्ञानी के लिये क्या कर्तव्य है ?**

**उत्तर** - इस विद्वान् को तत्त्वज्ञान के उदय से पूर्व इस लोक की इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिये स्वर्गादि की सिद्धि के लिये यज्ञ, उपासना आदि और मोक्ष के साधन ज्ञान की सिद्धि के लिए श्रवण, मननादि

करना था वह सब तत्त्वज्ञान हाने पर पूर्ण हो चुका । अर्थात् संसार के फल की इच्छा के अभाव से और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से वह सब योग, जज्ञ, जप, तप पूजा, पाठ, तीर्थाटन आदि प्रायः किया हुआ सा ही हो गया । कारण उसके करने का अब कुछ फल शेष नहीं है । भावार्थ यह है कि परलोक और मुक्ति की सिद्धि के लिये ज्ञानी को ज्ञान से पूर्व जो कुछ करना था वह अब कुछ भी करना शेष नहीं है । गीता ३/२७ ''तस्य कार्य न विद्यते''

**आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।**
**किमिच्छिन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।**

**- बृहदाः उपनिषद ४ । ४ । १२**

**'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे' - रामायाण**

यदि पुरुष 'यह आत्मा मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा को जान ले तो वह किस विषय की इच्छा से किसके लिये आत्मा को संताप देगा ? अर्थात् आत्मज्ञान से ही सब कामना शान्त हो जाती है । तब वह किस प्रयोजन से शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन, बुद्धि को कष्ट देगा ? कदापि नहीं ।

**प्रश्न १३ - तब ज्ञानी व अज्ञानी में क्या भेद रह जायगा यदि उसके व्यवहार में नियम न रहेगा तो ?**

**उत्तर -** चिदात्मा को अहंकार (मन) में प्रविष्ट न कर अर्थात् तादात्म्य अध्यास से चिदात्मा का अहंकार में अन्तभार्व न करकें अहंकार को चिदात्मा से पृथक् देखता हुआ कोई ज्ञानी चाहे करोड़ो वस्तुओं की इच्छा करे, किन्तु ग्रन्थि भेदन हो जाने के कारण उसके साक्षी आत्मा का बोध और मोक्ष की किंचित् भी हानि नहीं होती है, क्योंकि आत्मा असंस्पर्श ही रहता है और यह जानना ही ग्रन्थि भेदन है । यदि कहो कि ग्रन्थि भेदन से पूर्व भी चिदात्मा असंग रूप होने से कामना का बाध नहीं होगा तो यह जानना ही ग्रन्थि भेदन कहलाता है । इस बोध को मत भूलो ।

यदि यह चिदात्मा के असंगता का बोध तुम्हें हो गया तो तुम्हारा ग्रन्थि भेदन हो गया और तुम कृतार्थ हो गये । भावार्थ यह है कि ग्रन्थि भेदन से पहले भी चिदात्मा में काम, क्रोधादि का अभाव है । तो यह निश्चय ही स्मरण रखने योग्य है और इसीसे तुम्हारा ग्रन्थि भेदन हो जायगा और ऐसे ज्ञान को ही ग्रन्थि भेदन कहते हैं । यह बात मूढ़ नहीं जानते हैं और उनका इस प्रकार चिदात्मा के प्रति ज्ञान का अभाव ही ग्रन्थि है । अन्य कोई ग्रन्थि का स्वरूप नहीं है । क्योंकि ग्रन्थि और ग्रन्थि भेदन से ही ज्ञानी व अज्ञानी दोनों की विलक्षणता मानी गई है । इससे ज्ञानी को इच्छा आदि के होने से कोई बाधा नहीं मानी जाती है ।

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की विषयों में प्रवृत्ति अथवा इनकी विषयों से निवृत्ति के होने में ज्ञानी और अज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है । दोनों को विषयों का समान अनुभव होता है । किन्तु ज्ञानी आये हुए दुःख से द्वेष नहीं करता तथा जाते हुए सुख को रखने की इच्छा नहीं करता वह केवल उदासीन की भाँति देखते रहता है । इसी को ग्रन्थि भेदन या ज्ञानी कहते हैं । क्योंकि इच्छादि ज्ञानी को भी होते हैं इसीलिये अज्ञानी और ज्ञानी का भेद ग्रन्थि के रहने और उसका भेदन होने से ही है ।

मुर्खों को ऐसा ज्ञान नहीं होता और यह नहीं जानना ही उसकी ग्रन्थि है । इसके अतिरिक्त ग्रन्थि किसी दूसरे पदार्थ को नहीं कहते । बस इस विवेकवान को ज्ञानी और ग्रन्थिवान को अज्ञानी कहते हैं ।

**प्रश्न १४-ज्ञान हो जाने के बाद कर्म करने की शक्ति जड़ भरत शुकदेवादि में नहीं रहने का क्या कारण है ?**

**उत्तर -** यदि ज्ञान हो जाने से ज्ञानी के देह में कार्य करने की क्षमता नहीं रहती है ऐसा मानते हो तो वह ज्ञान के कारण नहीं मानना बल्कि रोग का लक्षण है । उसका उपचार करवाना चाहिये ज्ञान के भरोसे अपाहिज होकर न बैठ जाना । ज्ञान रोग नहीं है स्वस्थ जीवन है । जो महामूढ़ ज्ञान को जड़ता, क्षय व्याधि मानते हैं उनकी बुद्धि निश्चय ही मलिन है

अर्थात् हँसने योग्य उनका कथन है । भरत, ज्ञानदेव, शुकदेव, नारदादि भी जड़ पाषाण की तरह भिक्षा, भोजन, गमन छोड़कर कहीं बैठे न रहे किन्तु अधिकारीजनों को उपदेश एवं प्रारब्धानुसार उदासीनवत् प्रवृत्ति करते ही थे । फिर ऐसी शंका श्रुति को न सुनने के कारण ही होती है । श्रुति में कहा है कि तत्त्ववेत्ता भक्षण करता हुआ, अपनी इच्छा से क्रीड़ा करता हुआ और स्त्रियों के संग रमण करता हुआ रथ पर सवार होता हुआ वयस्कों के संग रमण करता हुआ इस शरीर को ज्ञानी 'मैं देह हूँ' इस रूप से स्मरण नहीं करता अर्थात् सब कार्य होते हुए भी ज्ञानी को अपने देह का भान नहीं रहता है । यह श्रुति वाक्य क्या झूठा है ? गीता ५/८,९ में भी सब करते हुए 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों में वर्त रही हैं मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा निश्चय ज्ञानी का बतलाया है । शास्त्र के तात्पर्य को न जानकर मूढ़ मनुष्य ज्ञानी के लिये अन्यथा अन्यथा कहते हैं । कोई ज्ञानी को मूढ़ बताते हैं तो बताने दो, उनके मूढ़ कहने से ज्ञानी को कोई आश्चर्य नहीं होता क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी की आत्मा है।

**प्रश्न १५-फिर ज्ञान हो जाने पर उसकी कर्मों से निवृत्ति क्यों नहीं होती ?**

**उत्तर** -उसका सिद्धान्त यह कि वैराग्य, बोध और उपरामता (शान्ति) ये परस्पर सहायक होते हैं और प्रायः संग ही वर्तते हैं और कभी-कभी उनका वियोग भी हो जाता है । मोक्ष के लिये वैराग्य तथा उपरति सहायक साधन है तथा तत्त्वबोध मुख्य साधन है । अब वैराग्य बोध और उपरामता यह तीनों अन्ततः पके हुए हो तो महान् तप का फल है याने जिसके जीवन में तत्त्वबोध के साथ वैराग्य और उपरति भी प्रतीत हो तो वह उसके पूर्व कृत तप का फल है । और कहीं कहीं पाप प्रतिबन्ध कर देता है जिससे वियोग हो जाता है याने बोध, वैराग्य एवं उपरति तीनों साथ नहीं होते ।

अब यदि किसी को वैराग्य एवं उपरति तो पूर्ण है किन्तु तत्त्व बोध नहीं हुआ तो उसे श्रृंगारवान् विधवा स्त्री की तरह मोक्ष सुख नहीं

मिलेगा । उसको योगभ्रष्ट कहते हैं । वह फिर पुण्यलोक में पुण्य भोगकर किसी वैरागी या श्रीमंत घर में जन्म लेता है और शेष रहे तत्त्वबोध को पूर्ण करता है ।

इधर कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनको तत्त्वबोध तो सदगुरु के सत्सगं से हो गया होता है, किन्तु प्रारब्ध वशात् वैराग्य उपरति नहीं हो रही है जैसे राजा जनक, शिखरध्वज, ध्रुव, प्रहलाद आदि । तो ऐसे साधकों को वैराग्य उपरति रुक जावे तो उन्हें केवल जीवन मुक्ति का जो एकाग्रता रूप विलक्षण आनन्द है वह विशेष वाह्य प्रवृति के कारण एकाग्रता न होने से नहीं मिल सकेगा । तत्त्वज्ञानी को वैराग्य तथा उपरति के अभाव से जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकेगा । बाह्य प्रवृत्ति के कारण केवल दुःखों का नाश नहीं हो सकेगा ।

किन्तु उनका अपने देह के आत्मा को ही पर देह की आत्मा जानना याने एक अखंड़ आत्मा को जानना ही ब्रह्म ज्ञान की समाप्ति है । ब्रह्म लोक को भी तृणवत् समझना यह वैराग्य की अवधि है । तथा शयन के समान मन से जगत की विस्मृति हो जाना ही उपरति की अवधि है । कदाचित् कहो कि ज्ञानियों में भी राग द्वेष देखने में आता है इससे उनका ज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं बन सकेगा सो यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म नाना प्रकार के अनन्त जन्म के हैं और ज्ञान वर्तमान देह में हुआ है और सूक्ष्म शरीर पुरातन है । इसीलिये प्रारब्ध में ज्ञानी अज्ञानी परतंत्रता से वर्तते हैं इसमें किसी का क्या वश चल सकेगा।

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानापि ।**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥**

**गीता ३ । ३३**

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए प्रकृति अनुसार कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है, फिर इसमें ज्ञानी अज्ञानी किसी का भी हठ क्या

करेगा कि मैं ऐसा ही करूँगा, ऐसा नहीं होने दूँगा ? हाँ, केवल इन्द्रियों के विषयों में जो राग-द्वेष है उन दोनों के वश में नहीं होकर उदासीनवत व्यवहार करने से कल्याण मार्ग में बाधा नहीं होती ।

**- गीता ३ । ३४**

इससे शास्त्र के अर्थ में पंडित जनों को भ्रम न करना चाहिये अर्थात् आधि (मानसिक विकार), व्याधि (शारीरिक विकार) के समान प्रारब्ध कर्म का फल होने से मुक्ति में रुकावट नहीं डाल सकते हैं । अपने अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जैसे जैसे वे वर्तना चाहें बरतें किन्तु मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ यह ज्ञान सब को एक रूप फल देने वाला है । निष्पाप ब्रह्म रूप सबका अपना स्वरूप होने से मुक्ति भी सबको समान है । यह स्थिति तत्त्वबोध की है यही जानने योग्य, स्मरण करने योग्य है ।

### प्रश्न १६ -शास्त्र व जीव का परम प्रयोजन क्या है ?

**उत्तर -** प्रपंच का कारण अज्ञान है । प्रपंच (पाँच का बखेड़ा) जन्म-मरण रूपी दुःख का हेतु है, इसीलिये इसे अनर्थ कहा जाता है और इस अनर्थ की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं । वही ग्रन्थ का और जीव का परम प्रयोजन है और आवान्तर प्रयोजन ज्ञान है । जिस वस्तु की पुरुष को अभिलाषा होती है उसे परम प्रयोजन कहते हैं । तथा उसे पुरुषार्थ भी कहते हैं । दुःख की निवृति तथा परमानन्द की प्राप्ति की समस्त पुरुषों को समान इच्छा होती है । वही मोक्ष का स्वरूप है । इसीलिये जीव का परम प्रयोजन मोक्ष है, ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति का साधन तो ज्ञान है, किन्तु सुख प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति रूप ज्ञान नहीं है । इसीलिये ज्ञान आवान्तर प्रयोजन हैं । जिस वस्तु के द्वारा परम प्रयोजन की प्राप्ति होती है वह आवान्तर प्रयोजन है । ऐसा ज्ञान है जिससे मुक्ति रूप परम प्रयोजन की प्राप्ति होती है । जैसे भूख निवृत्ति तथा भोजन में भूख निवृत्ति परम प्रयोजन है तथा भोजन आवान्तर प्रयोजन है, क्योंकि भोजन लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य तृप्ति

है । अथवा दिल्ली ट्रेन व दील्ली शहर में ट्रेन आवान्तर प्रयोजन दिल्ली शहर परम प्रयोजन है । फिर दिल्ली भी आवान्तर प्रयोजन है उसमें हमें सम्बन्धित घर पहुंचना परम प्रयोजन है । फिर घर भी आवान्तर प्रयोजन है जिस व्यक्ति से मिलना चाहते हैं वही हमारा परम प्रयोजन है फिर जिस काम के लिये हम उसके पास गये हैं वही हमारा परम प्रयोजन है शेष सभी आवान्तर प्रयोजन है ।

**प्रश्न १७ -वेदान्त शास्त्र का विषय क्या है ?**

**उत्तर-** वेदान्त शास्त्र का आवान्तर प्रयोजन तो ज्ञान है तथा उस ज्ञान द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता ही उसका परम प्रयोजन है अर्थात् विषय है ।

**जीव ब्रह्म की एकता, कहत विषय जन बुद्धि ।**
**तिनको जे अन्तर लहे, ते मतिमन्द अबुद्धि ।।**

जो जीव ब्रह्म में भेद देखते हैं या भेद बताते हैं वे पुरुष शठ (मूर्ख) हैं और वेद के विरोधी है । वेद में उन्हें देवताओं का पशु कहा है । जो मैं और हूँ तथा देवता और हैं इस रूप से भेद उपासना करते हैं वे अज्ञानी हैं । जीव ब्रह्म को एक जानना ही ज्ञान कहलाता है ।

**- वृहदारण्यक उपनिषद १ । ४ । १०**

**प्रश्न १८ -भेद उपासक को देवता का पशु क्यों कहा है ?**

**उत्तर -** जैसे पशु होते हैं और वे मनुष्यों के कृषि, वाणिज्य तथा दूध, घृतादि पदार्थों की सेवा में काम आते हैं । यदि उसमें से एक का हरण हो जावे तो हमें उसका अभाव सहन नहीं होता, क्योंकि उससे हमें बहुत प्रकार के लाभ से वंचित रहना पड़ता है । फिर यदि सब पशुओं का हरण हो जावे तो हमारे दुःखों का कहना ही क्या ? क्योंकि उस पशु के द्वारा समस्त उत्तम वस्तुओं का उत्पादन हम कराते हैं तथा उन सबका सेवन भी हम ही करते हैं । उन्हें तो बदले में घास, पुआल, छिलके, जूठन, सड़ा, गन्दा, बासी भोजन ही देते हैं और वे उसी को प्राप्तकर प्रसन्न हो जाते हैं और हमारे लिये अधिकाधिक काम करते हैं ।

अतः हम जैसे नहीं चाहते हैं कि हमारा उपयोगी पशु हमसे कोई छीन ले या भाग जावे। ठीक इसी प्रकार एक-एक अज्ञानी द्वारा पुरुष इन देवी देवताओं का पालन करता रहता है । उन अज्ञानियों द्वारा जो कर्मानुष्ठान, यज्ञ, अग्निहोत्र, श्राद्ध, तर्पण हवनादि किये जाते है उसका मुख्य भाग तो वे देवता पा जाते हैं तथा शेष बचा उच्छिष्ठ पुण्य रूपि घास यजमान (यज्ञादि कर्म करने वाले) को मिलता है और वह पुण्य पाकर ही प्रसन्न हो जाता है और उनके लिये बारम्बार जन्म-मृत्यु को पाकर भी कर्म या उपासना से उपराम नहीं होता है । फिर कोई देवता को भी यह बात प्रिय नहीं है कि उनके काम में आने वाला नरपशु ब्रह्मात्मैक्य (जीव ब्रह्म की एकता) ज्ञान को किसी संत से प्राप्त करें । इसीलिए वे किसी मुमुक्षु को आत्मज्ञान की ओर जाते देख उसकी बुद्धि में बैठ उसके मार्ग में विघ्न करने हेतु शास्त्र एवं संत में श्रद्धा नहीं होने देते हैं । पति-पत्नि, सास-ससुर पड़ोसी तथा बच्चों के द्वारा उसके मार्ग में रुकावट करा देते हैं । या सकाम कर्म फल का प्रलोभन बुद्धि में उत्पन्न कराकर ब्रह्मज्ञान से रोक लेते हैं । किन्तु कुछ पुरुषार्थी जीव विवेक, वैराग्य साधन सम्पन्न ब्रह्म लोक तक के भोग भी निश्चल बुद्धि से तुच्छ एवं क्षणिक जान त्याग कर मुमुक्षुता को प्राप्त होते हैं ।

**प्रश्न १९ - सर्व वेद शास्त्र तो जीव को परमानन्द स्वरूप बतलाते हैं फिर उसे मोक्ष प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ कैसे कर्तव्य रूप होगा ?**

**उत्तर -** इस प्रकार की शंका करके वेद शास्त्र से घृणा नहीं करना या उनमें अविश्वास नहीं करना चाहिये, किन्तु ब्रह्मविद्या के जानने वाले जो सद्गुरु देव हैं, उनके शरण में जाकर ज्ञान रूप तेज तलवार से शंकारूप वृक्ष के मूल को काट देना चाहिये । उसके लिये यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जो वस्तु अप्राप्त होती है उसी की प्राप्ति होती है । किन्तु जो वस्तु सर्वदा प्राप्त है उसकी भी प्राप्ति होती है ।

जैसे किसी काम करते समय पुरुष ने अपने हाथ की घड़ी निकाल कर जेब में रखली व चार घण्टे काम के पश्चात् जब वह मार्ग पर से जा

रहा था तो किसी ने पूछा-बाबूजी, कितना समया हुआ ? उसने फौरन अपना हाथ सदैव की भांति कमीज की बाँह को ऊपर की ओर उठाकर के घड़ी में टाईम देखना चाहा तो घड़ी की प्रतीति न होने से वह दुःखी हुआ व घबराहट हुई कि मेरी घड़ी खो गई । फिर अपने मित्र से पूछा क्या तुमने मेरी घड़ी को देखा है ? तो उसने कहा-आपने काम करते समय घड़ी को कहाँ रखा था ? वहीं देखो । उसे तत्काल याद आ गयी व जेब में हाथ डालकर कहा घड़ी मिल गई किन्तु क्या वह घड़ी खोई थी ? नहीं ! पर उसके होने का भान नहीं था और भान होने पर मिल गयी सी लगी ।

ठीक इसी प्रकार परमानन्द स्वरूप आत्मा में अज्ञान से ऐसी भ्रान्ति होती है कि ''आत्मा परमानन्द स्वरूप नहीं है'' किन्तु परमानन्द स्वरूप ब्रह्म है । उस ब्रह्म का और मेरा, अनादि काल से वियोग हो गया है । उपासना करके उस ब्रह्म को मैं प्राप्त करूँगा इस प्रकार की भ्रान्ति बहुत मूर्ख साधकों को हो रही है । यद्यपि बहुत से सन्त वेशधारी पंडित जन भी कहते हैं कि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है । भक्ति करके उनके दास, सेवक बनना ही हमारा लक्ष्य है। ऐसा कहने वाले वे पंडित जन भी मूर्ख हैं । उनकी बुद्धि हँसने योग्य है जैसे कोई ब्राह्मण शराब के नशे में होकर अपने को शुद्र मानता है व ब्राह्मण होने की अभिलाषा करता है किन्तु नशा उतरना ही उसके ब्राह्मण होने के लिये प्रयोजन है ब्राह्मण तो वह पूर्व से है ही। इसी प्रकार जीव पूर्व से ब्रह्म तो है ही केवल अज्ञान रूप नशा ही उतरना प्रयोजन है ।

जो भी जीव ब्रह्म का भेद, स्वीकार करते हैं वे मूर्ख ही हैं । उन पुरुषों को यदि पुण्य के फल स्वरूप कदाचित् आत्म ज्ञानी आचार्य मिल जावे और वेदान्त ग्रन्थ का श्रवण, मनन, निदिध्यासन हो जावे तब सुने अर्थ जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय करके कहते हैं कि हमको''परमानन्द स्वरूप मोक्ष गुरु एवं शास्त्र की कृपा से प्राप्त हो

गया ।'' इस प्रकार के कथन में उनका अभिप्राय यही है कि हमारा आत्मा परमानन्द स्वरूप जो पूर्व भी था किन्तु ''मैं आत्मा परमानन्द स्वरूप हूँ'' ऐसा भान नहीं था इसीलिये अप्राप्त की तरह था और आचार्य उपदेश द्वारा बुद्धि में परमानन्द स्वरूप आत्मा का भान होता है, इसीलिये परमानन्द की प्राप्ति कहते हैं । इस रीति से नित्य प्राप्त की प्राप्ति तथा नित्य निवृत्ति की निवृत्ति भी ग्रन्थ एवं जीव का प्रयोजन सफल है ।

रस्सी में साँप नित्य निवृत्त ही है, तीन काल में रस्सी साँप हुई ही नहीं किन्तु बुद्धि में आये दोष को आलोक प्रकाशादि साधन द्वारा निवृत्त किया जाता है । उसी प्रकार आत्मा में संसार (माया, अविद्या, अज्ञान) नित्य निवृत है उसकी निवृत्ति आत्म-ज्ञान से होती है । जैसे अध्यस्त सर्प की निवृति अधिष्ठान रज्जु के ज्ञान से ही हो जाती है । इसी प्रकार मिथ्या संसार की निवृत्ति अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान से हो जाती है ।

सभी कल्पित वस्तु की निवृत्ति अधिष्ठान रूप ही होती है, उससे पृथक् नहीं है । इसलिए समस्त कल्पित प्रतीति अपने अधिष्ठान स्वरूप से भिन्न नहीं किन्तु अधिष्ठान स्वरूप ही होती है । समस्त कल्पित जगत् का अधिष्ठान ब्रह्मात्मा ही है । अस्तु, समस्त जगत् ब्रह्म रूप ही है उससे पृथक् नहीं है । जो ब्रह्म से पृथक् कुछ भी देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता रहता है । ज्ञान का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु का ज्ञान होता है उस वस्तु में अध्यास तथा उस वस्तु के अज्ञान को तत्काल दूर करता है । ''भ्रान्ति ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु और भ्रान्तिज्ञान का नाम अध्यास है ।'' जिसमें जो वस्तु मिथ्या नहीं है किन्तु सत्य है उसकी निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती है किन्तु क्रिया द्वारा ही होती है । जिसमें जो वस्तु सत्य नहीं है किन्तु मिथ्या है उसकी निवृत्ति कर्म से नहीं अपितु ज्ञान से ही होती है । विल जीवित सर्प का प्रहार से एवं रस्सी के सर्प का प्रकाश से ही निवृत्ति हो सकेगी।

## प्रश्न २० -विषय सुख की ही इच्छा सबको होती है, मोक्ष सुख की इच्छा सबको है यह कैसे जानें ?

**उत्तर -** सर्व पुरुषों को समस्त दुःखों का नाश और नित्य सुख प्राप्ति की चाहना है और सुख की प्राप्ति रूप मोक्ष है । इसीलिये सर्व पुरुष मोक्ष सुख को ही चाहते हैं विषय सुख को नहीं । यदि विषयों में ही आनन्द होता तो कोई भी पुरुष सुषुप्ति सुख की चाह नहीं करता । सुषुप्ति का सुख विषय जन्य याने विषयों से प्राप्त होनेवाला सुख तो नहीं है फिर भी चाहते हैं । अस्तु ! मनुष्य सुख मात्र चाहता है, विषय सुख नहीं । सब पुरुषों को न्युनाधिक विषय सुख तो प्राप्त है ही किन्तु ऐसी इच्छा सबको बनी रहती है कि हमारे पास ऐसा सुख प्राप्त हो कि जिससे बड़ा किसी के पास न हो और हमसे वह सुख कभी न छिने । बस, ऐसा सुख तो आत्म स्वरूप मोक्ष है । इस प्रकार सब पुरुष आत्म सुख को ही चाहते हैं ।

## प्रश्न २१ - श्रवण कितने प्रकार का होता है तथा ब्रह्म ज्ञान हेतु कौन सा श्रवण उपयोगी है ?

**उत्तर -** श्रवण दो प्रकार होता है एक तो वेदान्त महावाक्यों का श्रोत्र का संयोग रूप श्रवण है और दूसरा वेदान्त वाक्य का विचार रूप श्रवण है । ज्ञान का हेतु प्रथम श्रवण याने वेदान्त महावाक्य का श्रोत्र से सम्बन्ध है, दूसरा नहीं । क्योंकि शब्द जन्य ज्ञान के लिये इन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग रूप श्रवण ही सर्वत्र हेतु है । जैसे आग कहते हो, आग शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से सम्बन्ध होते ही आग की उष्णता रूप ज्ञान तत्काल हो जाता है, उसके लिये विचार नहीं करना पड़ता। इसलिये वेदान्त महावाक्य और श्रोत्र का संयोग रूप श्रवण ही ब्रह्मज्ञान का हेतु है । और अवान्तर वाक्य श्रवण परोक्ष ज्ञान का हेतु है ।

जिसके ज्ञान होने से भी यह असम्भावना होती है कि वेदान्त वाक्य ब्रह्म के प्रतिपादक हैं अथवा और अर्थ के बताने वाले हैं । तथा यह भी असम्भावना होती है कि जीव ब्रह्म की एकता सत्य है या भेद

सत्य है । अतः इस प्रकार के वेदान्तगत सन्देह को प्रमाणगत संदेह कहते हैं । जो विचार रूप श्रवण है उससे दूर होता है । वेदान्त का प्रमेय याने जानने योग्य वस्तु जीव ब्रह्म की एकता के प्रति जो संदेह है उस प्रमेय को असम्भावना कहते हैं, वह मनन द्वारा दूर होता है । विपरीत भावना याने आत्मा में देह भाव या देह में आत्मभाव के दोष की निवृत्ति निदिध्यासन से होती है । इस प्रकार प्रथम श्रवण याने वेदान्त के महावाक्य का श्रोत्र से सम्बन्धता ज्ञान द्वारा मोक्ष का हेतु है और विचार रूप श्रवण, मनन और निदिध्यासन से असम्भावना और विपरीत भावना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का हेतु है ।

**प्रश्न २२ -शब्द से परोक्ष ज्ञान व अपरोक्ष ज्ञान होने का क्या नियम है ?**

**उत्तर -** शब्द का यह स्वभाव है कि जो वस्तु दृष्टि से दूर हो उसका सदा परोक्ष, ज्ञान ही होती है । किसी भी प्रकार दूरस्थ वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता । जैसे स्वर्ग, अमेरीका आदि का शब्द द्वारा या शास्त्र रूपी शब्द द्वारा देवी, देवताओं के लोकों का परोक्ष ज्ञान ही होता है, तथा जो वस्तु समीप होती है याने पास प्रत्यक्ष होती है उसका शब्द द्वारा अपरोक्ष एवं परोक्ष दोनों ज्ञान होता है । जैसे किसी ने घड़ी न देखी हो और पास में अनेक सामान के मध्य घड़ी के पड़े रहने पर भी घड़ी है इतना कहने से सुनने वाले को परोक्ष ज्ञान ही होगा, किन्तु यह घड़ी है इस रूप से बताने पर शब्द द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होता है । इस प्रकार समीप वस्तु का भी शब्द से परोक्ष ज्ञान होता है । और उस वस्तु का ''यह है'' इस शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है । जैसे दसवाँ है इतना सुनने से तुम्हें दसवें का परोक्ष ज्ञान ही हुआ था, किन्तु जैसे दसवाँ ''तू है'' इस प्रकार बताने से शब्द द्वारा दसवें का अपरोक्ष ज्ञान हुआ । उसी प्रकार ब्रह्म सर्व का आत्मा होते हुए भी अत्यन्त अव्यवहित याने अभिन्न होने पर भी भ्रान्तिवान अज्ञानी जीव को अवान्तर वाक्य से ''अस्ति रूप'' से ''है रूप'' से बताने पर परोक्ष ज्ञान होता है । जैसे आत्मा सच्चिदानन्द रूप है

किन्तु "तू वह है" ऐसा कहने से "मैं ब्रह्म हूँ" यह अपरोक्ष ज्ञान शब्द से होता है । इस प्रकार परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान शब्द से होता है याने अवान्तर वाक्य परोक्ष ज्ञान का तथा महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है ।

जब आचार्य "तू ब्रह्म है" यह वाक्य बोलता है तो उसका श्रोता के कान से सम्बन्ध होता है "मैं ब्रह्म हूँ" यह अपरोक्ष ज्ञान श्रोता को हो जाता है । श्रोता के कान से महावाक्य का सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान नहीं होता । इसीलिये श्रोत्र सम्बन्धी महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान एवं अवान्तर वाक्य परोक्ष ज्ञान के साधन हैं ।

**अस्ति ब्रह्मेति चेद्वद परोक्षज्ञानमेव तत् ।**
**अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥**

वरोह उप. २ / ४९

**"मैं ब्रह्म हूँ" इस ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं ।**

**"ब्रह्म है" इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं ।**

**प्रश्न २३ - पुरुष कितने प्रकार के होते हैं और उनके क्या लक्षण होते हैं ?**

**उत्तर -** शास्त्रों में मनुष्य के चार विभाग किये गये हैं - (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु (४) मुक्त ।

**(१) पामर :-** इस लोक के निषिद्ध और विहित भाग में जो आसक्त तथा शास्त्र संस्कार से रहित पुरुष को पामर कहते हैं । इसके भी उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद हैं ।

उत्तम पामर वह है जो शास्त्र वेत्ता होते हुए यहाँ के भोगों में आसक्त है ।

मध्यम पामर वह है जिसने अन्य के मुख से शास्त्र सुन कर भी उसमें विश्वास नहीं होता और लौकिक भोग में ही तल्लीन है ।

कनिष्ठ पामर वह है जो शास्त्र संस्कार से बिल्कुल अनभिज्ञ है तथा केवल सांसारिक भोगों में फँसा है ।

**(२) विषयी :-** शास्त्र के अनुसार विषय भोगता हुआ परलोक या इस लोक के भोगों के लिये जो कर्म करता है वह विषयी है । इस में भी ब्रह्म लोक के भोग की कामना से सकाम कर्म करने वाला उत्तम, स्वर्ग सुख की कामना वाला मध्यम तथा जो इस लोक के ही राज्यादि विषयों की चाह हेतु कर्म करता है उसे कनिष्ठ विषयी कहते हैं ।

**(३) जिज्ञासु :-** इसके भी तीन भेद होते हैं । उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ । उत्तम जिसमें तीव्र जिज्ञासु है । विषय सुख को अनित्य जान जो विवेकादि चार साधनों से सम्पन्न है तथा मोक्ष का साधन ज्ञान है, वह जानने योग्य है ऐसा जो जानता है वह जिज्ञासु उत्तम है ।

**मध्यम-** जो मोक्षार्त मन्द जिज्ञासा से वेदान्त श्रवण में प्रवृत हो ।

**कनिष्ठ -** जिसमें मोक्षार्थ जिज्ञासा बहुत मन्द हो और निष्काम कर्म, उपासना में प्रवृत्त हो ।

**(४) मुक्त :-** स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व पंचकोष से भिन्न अपने आत्मा को जो ब्रह्म रूप करके जानता है उसे मुक्त कहते हैं ।

जिज्ञासु को सत्शास्त्रों के श्रवण से यह बोध होता है कि विषय सुख अनित्य है । जितने काल विषय सुख होता है वह पुरुष कोई न कोई भय, चिन्ता, रोग, हानि आदि दुःख से ग्रसित रहता है । दुःख की निवृत्ति के अन्य-अन्य उपाय करने से भी दुःख सदैव के लिये नहीं जाता है । जैसे औषधि से रोग सदा के लिये नहीं जाता । जिन्हें रोग दूर होता है उन्हें रोग फिर आ भी जाता है। फिर जितने काल शरीर है उतने काल सम्पूर्ण दुःख अन्य किसी साधन से दूर हो नहीं सकते; क्योंकि शरीर मात्र पुण्य-पाप से रचे हुए हैं । मनुष्य शरीर तो शुभाशुभ मिश्रित कर्म का फल प्रसिद्ध है ।

## प्रश्न २४ - क्या देवों के शरीर केवल पुण्य एवं पशु-पक्षियों के शरीर केवल पाप से बनते हैं ?

**उत्तर -** कोई भी शरीर केवल पुण्य अथवा केवल पाप के आधार से नहीं बनता । सब शरीरों की रचना में पाप-पुण्य संयुक्त हैं । देव शरीर भी मिश्रित कर्म का फल है । जो केवल पुण्य का ही देव शरीर होवे तो अपने से अधिक अन्य देव के ऐश्वर्य को जो देख उनके मन में जो परिताप होता है वह नही होना चाहिये था । स्वर्ग सम्राट इन्द्र को भी अनेक दैत्य-दानव के कारण दुःख होता रहता है, ऐसा पुराणों में अनेक स्थान पर कहा है । यदि देव शरीर केवल पुण्य का फल होता तो उन्हें किंचित् भी दुःख नहीं होना चाहिये था । इसीलिये देवता भी पुण्य-पाप युक्त हैं और जो श्रुति में देवताओं को पाप रहित कहा उसका अभिप्राय पुण्य की बहुलता से कहा है । कर्म का अधिकार केवल मनुष्य शरीर में है और शरीर में किये कर्म का फल जीव को नहीं मिलता । इसलिये कर्म प्रधान केवल यह मानव शरीर ही माना जाता है । अकर्ता तो कोई भी जीव एक क्षण नहीं रह सकता ऐसा गीता श्रुति कहती है, किन्तु वे कर्म संकर होते हैं अर्थात् वे फल देने में असमर्थ होते हैं । बाँझ मैथुन की तरह, किन्तु अन्य शरीर में किया मिश्रित कर्म का फल तो देवताओं को भी भोगना ही पड़ता है ।

तिर्यक रेंगकर चलने वाले तथा पशु, पक्षी का शरीर भी अल्प पुण्य तथा अधिक पाप से रचा हुआ होता है । उनमें जो प्रसिद्ध दुःख देखने में आता है वह तो पाप का फल है तथा मैथुन आदि का व मुक्तता का जो सुख है वह पुण्य का फल है । इस प्रकार सभी शरीर मिश्रित कर्म का फल है । कोई तो कम पाप तथा अधिक पुण्य के शरीर है जैसे देवों का शरीर । उत्तम मनुष्यों का शरीर देवों की तरह विशेष पुण्य का फल है तथा अधम मनुष्यों का शरीर तिर्यक प्राणी की तरह कम पुण्य का फल है । इस तरह पाप सभी में होने से, पाप का फल दुःख, शरीर रहने तक अवश्य ही सबको भोगना पड़ता है । इसलिये जबतक शरीर है तब तक सभी को थोड़ा-बहुत दुःख होता ही रहता है ।

## प्रश्न २५ - फिर ये शरीर किस प्रकार होते हैं ?

**उत्तर -** शरीर धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप का फल है । इसलिए धर्म और अधर्म की निवृत्ति हुए बिना शरीर की निवृत्ति नहीं होती है । वर्तमान शरीर निवृत्ति हो भी जाय तो भी अनन्त संचित धर्म-अधर्म में से पुनः नूतन शरीर तैयार हो जावेगा । और ये धर्म-अधर्म, पुण्य- पाप का कारण राग-द्वेष नष्ट हुए बिना निवृत्ति नहीं होवेंगे । यदि वर्त्तमान पुण्य-पाप के फल भोगने से छूट जाये तो भी भोगकाल में राग - द्वेष कर नूतन पुण्य-पाप को रच लेंगे । इसलिये राग - द्वेष निवृत्ति हाने से ही पुण्य-पाप नष्ट हो सकते हैं । किन्तु वह राग-द्वेष की उत्पत्ति का जो कारण अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान है उसकी निवृत्ति के बिना राग-द्वेष कभी नहीं जा सकते हैं, क्योंकि अनुकूल वस्तु में राग तथा प्रतिकूल में द्वेष बुद्धि होने से पाप - पुण्य की उत्पत्ति होती है । और यह अनुकूल - प्रतिकूल ज्ञान का कारण भेद ज्ञान है। याने जिस वस्तु को अपने आत्म स्वरूप से पृथक् जानते हैं उसीके प्रति अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञान होता है । किन्तु अपने आत्म-स्वरूप में किसी को अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान नहीं होता। सुख के साधन का नाम अनुकूल तथा दु:ख के साधन का नाम प्रतिकूल है ।

अपने आत्मस्वरूप को सुख या दु:ख का साधन नहीं कह सकते । वैसे आत्मा सुखरूप है किन्तु सुख का साधन नहीं है, क्योंकि सुख आत्मा से भिन्न नहीं है । इस प्रकार पदार्थों में अपने आत्म स्वरूप से जो भेद ज्ञान है वही अनुकूल तथा प्रतिकूल ज्ञान का हेतु है । इसलिये उस भेद ज्ञान की निवृति बिना अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । और यह भेद ज्ञान अविद्या के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् और उस जगत् का ज्ञान अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान काल में ही होता है । इसलिये जहाँ तक स्वरूप का अज्ञान होगा वहाँ तक समस्त जगत् और उसका ज्ञान रहने का ही है ऐसा सम्पूर्ण वेद तथा शास्त्रों का उच्च स्वर से डिंडिभी (ढिंढोरा) है । इस प्रकार सम्पूर्ण

दु:ख का हेतु अपने आत्म स्वरूप का व्यापक रूप से अज्ञान है और स्वरूप का यह आवरण अज्ञान स्वरूप ज्ञान बिना दूर हो नहीं सकता क्योंकि जिस वस्तु का अज्ञान होता है वह अज्ञान उस वस्तु के ज्ञान से ही दूर होता है । जैसे रस्सी का अज्ञान रस्सी के ज्ञान से दूर होता है, अन्य ज्ञान से दूर नहीं होता । इसलिये स्वरूप का ज्ञान ही अज्ञान दूर करके समस्त दु:ख की निवृत्ति तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति में एक मात्र साधन है । इस प्रकार सर्व दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति का हेतु स्वरूप का ज्ञान है, इसलिये स्वरूप जानने योग्य है ; क्योंकि स्वरूप ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह ब्रह्म नित्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है । इसलिये स्वरूप ज्ञान से असत्, जड़ दु:ख रूप से रहित सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है ।

**प्रश्न २६ - साक्षी ब्रह्म स्वरूप आत्मा जो निर्विकार है ऐसा शास्त्र का कथन है तब राग - द्वेष किसके धर्म हैं ?**

**उत्तर - साक्षी ब्रह्म स्वरूप इक, नहीं भेद को गंध ।**
**राग - द्वेष मति के धरम, निज में मानत अंध ।।**

साक्षी ब्रह्म स्वरूप है तथा एक है, इसमें तनिक भी भेद नहीं । राग और द्वेष यह अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति के धर्म हैं । उन धर्मों को अज्ञान से अन्धा हुआ मनुष्य साक्षी आत्मा में अर्थात् अपने में मानता है । अतः साक्षी आत्मा पाँच क्लेशों से रहित निर्विकार ही है और ब्रह्म से अभिन्न ही है । कर्ता - भोक्ता जो संसारी जीव है उसके विशेष्य भाग को साक्षी कहते हैं । अन्तःकरण विशेषण और चैतन्य विशेष्य है । अन्तःकरण उपाधि वाले चैतन्य भाग को जीव कहते हैं ?

**प्रश्न २७ - साक्षी किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** चैतन्य समीप तथा उदासीन को साक्षी कहते हैं । एक ही अन्तःकरण विवेकी की दृष्टि से चेतन की उपाधि है तथा अविवेकी की दृष्टि से चेतन का विशेषण है याने एक ही चेतन विवेकी को साक्षीरूप

तथा अविवेकी को जीवरूप भासता है । देहादिक से उदासीन समीपवर्ती और चेतन वस्तु को साक्षी कहते हैं अर्थात् देह, इंद्रिय, अन्तःकरण देश में आया उपहित शुद्ध चैतन्य अविकारी हुआ विकार को प्रकाशित करता है, उसे साक्षी कहते हैं ।

**प्रश्न २८ - उपाधि किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** जो वस्तु जितने स्थान में स्वयं रहकर उतने स्थान में रहने वाली पूर्व वस्तु को जनाती है तथा स्वयं पृथक् रहती है उसे उपाधि कहते हैं । जैसेकि कान के खाली स्थान में रहे आकाश को श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं । इस दृष्टान्त में कान का पोलांग यह उपाधि है, क्योंकि कान का खाली स्थान जितनी जगह में है उतनी जगह में रहे आकाश को श्रोत्र रूप से जनाता है ओर स्वयं उससे पृथक् ही रहता है । या कौवे वाला मकान में कौवा उपाधि है ।

इसी प्रकार अन्तःकरण जितनी जगह में स्वयं रहता है उतनी जगह में रहे चेतन को साक्षी नाम से जनाता है और अन्तःकरण स्वयं चैतन्य से अलग ही रहता है इसलिये अन्तःकरण साक्षी की उपाधि कहलाती है और अन्तःकरण में स्थित चेतन मात्र साक्षी कहलाता है । अस्तु ''जिस वस्तु का स्वरूप में प्रवेश नहीं होता और स्वरूप को अन्य पदार्थ से भिन्न करके जनाती हो वह उपाधि कहलाती है'' । जैसे घटाकाश है इसमें घट उपाधि आकाश की है । उतने आकाश को महाकाश से अलग करके जनाता है और घट स्वयं भी उस आकाश में प्रवेश नहीं होता है । इसी प्रकार माया उपाधि ईश्वर की है जो शुद्ध चेतन को अन्य नाम रूप से पृथक् करके जनाती है तथा माया स्वयं भी शुद्ध ब्रह्म में प्रवेश नहीं होती है अलग ही रहकर ब्रह्म रूप को ईश्वर रूप जनाती है । वैसे ही अविद्या उपाधि कूटस्थ आत्मा को जीव रूप से जनाती है तथा स्वयं भी आत्मा से अलग रहती है । इसमें अविद्या जीव की उपाधि है ।

यह जानना एवं अनेकता का ज्ञान करना दृश्य अन्तःकरण का ही धर्म है न कि साक्षी के । साक्षी तो केवल उस वृति को सत्ता व स्फूर्ति

देने वाला तथा उसका प्रकाशक है । उस वृत्ति की उपाधि से उस प्रकाशक चेतन का नाम साक्षी पड़ता हैं, और वृत्ति का जो नानापन तथा वस्तु को जानना इत्यादि क्रियाएँ हैं । उनका मिथ्या आरोप उस शुद्ध चेतन में होने से हम उस शुद्ध चेतन को भ्रान्ति से जानने वाला तथा अनेक मानते हैं । साक्षी चेतन तो सामान्य बिजली की तरह सर्वत्र एक व समान है । अन्तःकरण रूप बल्वों के भेद से प्रकाश में भेद है । लाल, नीले, पीले रंग बिजली के नहीं उपाधि बल्व के हैं । उपाधि वाले चेतन को उपाहित कहते हैं ।

**प्रश्न २९ - विशेषण किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** ''जो दूसरे पदार्थों से अपने आश्रय को भिन्न करके बतलावे व अपने सहित अपने आधार वस्तु को एक साथ अभिन्न करके जनाता हो उसे विशेषण कहते हैं । जैसे काला घड़ा । इसमें काला विशेषण है, क्योंकि काला रंग घड़े को अपने सहित जनाता है या बन्दूक धारी सैनिक, कुण्डल वाला पुरुष या कौवे वाला घर देवदूत्त का है । इन उदाहरणों में विशेषण सहित वस्तु का बोध होता है । इसी प्रकार अन्तःकरण भी जो कर्ता-भोक्ता जीव है, उसका विशेषण है क्योंकि अन्तःकरण अपने सहित चेतन को कर्ता-भोक्ता जीव की तरह जनाता है । इसलिये संसारी जीव का अन्तःकरण विशेषण है । क्योंकि प्रमाता के स्वरूप में अन्तःकरण का प्रवेश है अर्थात् प्रमाता के कार्यों से सम्बन्ध है और प्रमेय चेतन (विषय चेतन) से भिन्न करके जनवाता है । विशेषण वाले चेतन को विशिष्ट कहते हैं । इसलिये अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव कहलाता है । जीव को प्रमाता भी कहते हैं ।

**प्रश्न ३० - जीव किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** अन्तःकरण तथा उसमें रहे चेतन ये दोनों मिलकर जीव कहलातें हैं। इसीका दूसरा नाम संसारी भी है । किन्तु जब इसी चेतन को अन्तःकरण से पृथक् बताना हो तो अन्तःकरण को उपाधि मानने में आती है और तब चेतन अंश को साक्षी संज्ञा से कहा जाता है ।

राग, द्वेष, अभिनिवेश, अस्मिता, अविद्या ये पाँच क्लेश इसी संसारी जीव में है न कि साक्षी चेतन में याने संसारी के विशेष्य भाग में नहीं है किन्तु विशेषण जो अन्तःकरण है उसीमें है, क्योंकि जो संसारी (जीव) का विशेष्य जो चेतन भाग और साक्षी एक ही वस्तु है । केवल अन्तःकरण उपाधि से उसे साक्षी व अन्तःकरण विशेषण से उसे ही विशिष्ट कहते हैं । बुद्धि एवं आत्मा को एक मानना अस्मिता तथा मरण के भय को अभिनिवेश कहते हैं । अस्तु एक ही चैतन्य अन्तःकरण सहित कहना हो तो उसे जीव नाम से संज्ञा देते हैं और अन्तःकरण बिना केवल शुद्ध चेतन का वर्णन करना हो तो उसे साक्षी नाम से कहा जाता है ।

इस प्रकार अविवेकी लोग अन्तःकरण और चेतन को अभिन्न कर देते हैं और उसका नाम जीव देते हैं । तथा अन्तःकरण के सुख-दुःखादि धर्म चेतन में मानते हैं । इसे ही अनन्योध्यास भी कहते हैं और चेतन के ज्ञान आनन्द धर्म अन्तःकरण में मानते हैं । विवेकी लोग अन्तःकरण के सुख-दुःखादि धर्म चेतन में नहीं मानते न चेतन के ज्ञानादि धर्म जड़ अन्तःकरण में मानते हैं । अर्थात् दोनों को अलग-अलग जानकर मोहित नहीं होते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि साक्षी और संसारी के विशेष्य भाग का भेद नहीं और संसारी के विशेष्य भाग में क्लेश भी नहीं है किन्तु विशेषण मात्र में ही याने अन्तःकरण में ही क्लेश है । इसलिये राग-द्वेषादि बुद्धि के धर्म कहे जाते हैं जीव के नहीं । जीव चेतन तो शुद्ध असंग निर्विकार ही है ।

### प्रश्न ३१ -प्रत्येक देह के साक्षी पृथक्-पृथक् होने से ब्रह्म के साथ एकता कैसे सम्भव होगी ?

**उत्तर -** यद्यपि ईश्वर साक्षी एक शुद्ध ब्रह्म है और जीव साक्षी प्रत्येक अन्तःकरण के पृथक्-पृथक् है और परिच्छिन्न है तो भी व्यापक ब्रह्म से उस समय भी भिन्न नहीं होंगे । जब उनकी अन्तःकरण उपाधि को अलग कर दिया जावेगा, क्योंकि अन्तःकरण उपाधिक के कारण ही चेतन में साक्षीत्व की कल्पना हुई है । उपाधि से रहित केवल चेतन मात्र है और उसकी व्यापक ब्रह्म से एकता सम्भव है । जैसे घटाकाश नाना है और

परिच्छिन्न प्रतीत होने पर भी महाकाश से भिन्न नहीं; किन्तु महाकाश रूप ही घटाकाश है । घट रूप उपाधि के हट जाने से केवल आकाश ही है वैसे ही नाना परिच्छिन्न साक्षी भी एक ब्रह्म स्वरूप ही है । दूसरा दृष्टान्त जैसे -

एक सफेद कागज पर बीच में किसी एक अक्षर के आकार की कल्पना कर जगह छोड़ते हुए बाकी चारों ओर स्याही फैला दें तो बीच में जो सफेद कागज था वह कागज न दीख एक अक्षराकार प्रतीत होने लगेगा जबकि उस अक्षर का स्वरूप कागज के अलावा कोई सामग्री नहीं है याने स्याही भी उसकी सामग्री नहीं । बिना स्याही के वह स्याही उपाधि के कारण प्रतीत होता है । देखेंगे, बीच में जो सफेद अक्षर प्रतीत होता है उसका अपने आधार सफेद कागज से नाम मात्र का ही भेद है, क्योंकि स्याही रूप उपाधि के बिना ॐ अक्षर की प्रतीति कागज पर हो ही नहीं सकता है । उसी तरह अन्तःकरण रूप उपाधि के बिना साक्षी नाम भी सम्भव नहीं, किन्तु शुद्ध चैतन्य ही है । और उपाधि के बिना धर्म सहित अन्तःकरण का प्रकाश रूप कार्य भी प्रतीत नहीं हो सकता है बल्कि चैतन्य मात्र ब्रह्म ही प्रतीत होता है । जैसे आकाश में ''घटाकाश''। यह नाम और ''जल आना'' यह कार्य प्रतीत होता है । ये घट रूप उपाधि की दृष्टि से ही प्रतीत होते हैं । घट रूप उपाधि के बिना घटाकाश नाम तथा जल आना रूप कार्य प्रतीत नहीं हो सकते । किन्तु आकाश मात्र ही प्रतीत होता है । इसलिए घटाकाश महाकाश रूप ही है । वैसे ही चेतन में साक्षी नाम और अन्तःकरण का धर्म प्रकाश रूप कार्य अन्तःकरण उपाधि की दृष्टि से ही है । अन्तःकरण उपाधि के बिना चेतन का साक्षी नाम तथा धर्म सहित अन्तःकरण का प्रकाश रूप कार्य प्रतीत नहीं होता है। साक्षी ब्रह्म स्वरूप है उसमें तनिक भी भेद नहीं है और जो भेद मानता हैं वह बुद्धि की मन्दता ही है ।

**प्रश्न ३२- साक्षी नाना मानने से यदि बोध हो तो उसमें क्या हानि होगी ?**

**उत्तर-** कोई भी प्रक्रिया द्वारा जीव ब्रह्म के एकत्व पक्ष में मुमुक्षु को जो उचित लगता हो उस पक्ष का मुमुक्षु को स्वीकार करना चाहिये । मुख्य उद्देश्य प्रक्रियाओं को सत्य सिद्ध करना नहीं है, किन्तु प्रक्रियाओं के माध्यम से अपने प्रत्यक् आत्मा का विवेचन द्वारा याने अन्नमयादि पंचकोश, स्थूलादि तीन शरीर, जाग्रतादि तीन अवस्थाओं से भिन्न करके ब्रह्म स्वरूपता का निश्चय रूप साक्षात्कार करना ही मुख्य उद्देश्य या परम प्रयोजन है । किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार लक्ष्य को भुलाकर केवल जीव के एकत्व या अनेकत्वपने में विवाद मात्र नहीं करना है । अस्तु, मुमुक्षुओं को जिस प्रकार भी अपने प्रत्यक् आत्मा का ब्रह्म रूप से बोध हो जावे वही पक्ष या वही प्रक्रिया (साधन) अपनाना उसके लिये योग्य होगा । एक ''तू सत्य है'' इस बात को बुद्धि भेद से नाना दृष्टान्त, प्रक्रिया द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है कि कैसे भी, किसी भी प्रक्रिया से जीवको अपने सहज स्वरूप का यथार्थ बोध हो जावे । इस कारण ही शास्त्रों का जाल गुथा है ।

**प्रश्न ३३ -अध्यास किसे कहते हैं व उसका क्या कारण है ? आत्मा में अध्यास सामग्री कैसे है ?**

**उत्तर-** जिसमें जो वस्तु न हो और उसमें वह वस्तु की बुद्धि होकर उस अधिष्ठान वस्तु का अन्यथा रूप प्रतीत होना अध्यास कहलाता है । जैसे आत्मा में नाम, रूप, जाति, जन्म, मृत्यु, सुख-दुःख, कर्ता-भोक्ता, पुण्य-पाप, आवागमन, बन्धन की प्रतीति या देह, इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थों में मैं तथा मेरेपन की भ्रान्ति अध्यास कहलाता है । और अध्यास की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है । अध्यास का कारण सजातीय वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार ही हेतु है । जैसे किसी ने सिनेमा में सर्प देखा हो किन्तु असली सर्प नहीं देखा हो फिर भी उसे अन्धकार में पड़ी रस्सी में

सर्प का अध्यास है । इसी प्रकार अनादि मिथ्या संसार का अध्यास अपने आत्मस्वरूप में जीव को अज्ञानवश होता आ रहा है ।

अध्यास का दूसरा कारण वस्तु का सामान्य रूप से ज्ञान तथा विशेष रूप से अज्ञान अध्यास का हेतु है । आत्मा है यह सर्व को प्रतीति होती है किन्तु ''मैं हूँ'' या नहीं ? ऐसा किसी को संदेह नहीं होता बल्कि ''मैं हूँ'' ऐसा सभी को सामान्य रूप से बोध होता है याने ''सत्य'' रूप से अपना सभी को भान होता रहता है । किन्तु मैं चैतन्य, आनन्द, नित्य, शुद्ध, नित्यमुक्त रूप आत्मा हूँ ऐसा ज्ञान सबको नहीं होता है । इसलिए यह विशेष रूप कहलाता है, जो सबको अज्ञात है । जो सबको 'मै' रूप से ज्ञात हो रहा है वह आत्मा का सतरूप सामान्य रूप कहलाता है । वैसे तत्त्वतः आत्मा में सामान्य विशेष भाव नहीं है । यह समरसता ज्ञानी जानते हैं किन्तु अज्ञानी नहीं जानते हैं, इसलिए उनको समझाने हेतु आत्मा में सामान्य विशेष भेद कल्पित किया गया है । यद्यपि आत्मा का स्वरूप ही चेतन, आनन्दादिक है याने स्वभाव ही है, गुण नहीं है जो पृथक् हो । अतः सत् की व्यापकता की तरह चेतन, आनन्दादि रूप भी व्यापक ही है। सर्व को सतपने की प्रतीति अविद्या काल में भी होती रहती है किन्तु, चेतन आनन्दादिक की प्रतीति नहीं होने से सत् को व्यापक देश, बहुत काल तथा चेतन आनन्दादिक को न्यून देश, न्यून काल कहा है क्योंकि ज्ञान होने पर केवल ज्ञानियों को ही प्रतीति होती है । वैसे अविद्या काल में भी अज्ञानी का आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप ही है व ज्ञान होने पर ज्ञानियों का सच्चिदानन्द आत्मा कोई विशेष मोटा नहीं होता है । सर्वत्र समान ही है, किन्तु अविद्वान् को प्रतीत नहीं होने से आत्मा में सामान्य, विशेष तथा न्यूनकाल अधिक काल की कल्पना की है। आत्मा में सामान्य विशेष भाव मानने से ''निर्विशेष आत्मा है'' इस सिद्धान्त की कोई क्षति नहीं, क्योंकि आत्मा में सामान्य विशेष भाव वास्तविक रूप से तो स्वीकार नहीं किये गये हैं । केवल अज्ञानी-ज्ञानी की दृष्टि से प्रतीत भेद को समझाने हेतु ही स्वीकार किये हैं ।

जिस वस्तु का विशेष रूप से ज्ञान तथा विशेष रूप से अज्ञान होगा उसमें कभी भ्रान्ति (अध्यास) नहीं होता। जैसे रस्सी का पूर्ण रूप से बोध होने पर भी सर्पाध्यास नहीं होगा व रस्सी का पूर्ण अज्ञान होने से भी सर्पाध्यास नहीं बन सकेगा याने ''यह है'' रूप से भी जब प्रतीति न हो तो अध्यास किसमें बनेगा ? ''यह'' है, यह ही उस वस्तु का सामान्य स्वरूप है इसकी प्रतीति अध्यास धारण करती है । और ''यह रस्सी है'' यह उस वस्तु का विशेष रूप है तो अध्यास का कारण वस्तु का सामान्य रूप से ज्ञान तथा विशेष रूप से अज्ञान होना ही है। ऐसा अध्यास अज्ञानी जन को अपने आत्मा में अनुभव सिद्ध ही है । याने आपने आत्मा का सत् स्वरूप से, मैं हूँ रूप से सामान्य ज्ञान तथा चैतन्य, आनन्द, नित्य, मुक्त शुद्धादि विशेष रूप का जीव को अज्ञान रहता ही है।

समस्त अनात्म व अहंकार इन्द्रिय प्राणादि वस्तु तथा उसके मैं रूप से ज्ञान को बंध कहते हैं । अनात्म वस्तुएँ रस्सी में सर्प की तरह जब प्रतीति होती है तभी होती है और जब प्रतीति नहीं होती तब वे नहीं होते हैं । इसी कारण से सुषुप्ति में समस्त प्रपंच का अभाव स्वीकार किया है । यह वेद मत है । अस्तु, अहंकारादिक को जब प्रतीति होने लगता है तभी उत्पत्ति होती है और प्रतितिका लय होने पर अहंकारादिक का भी लय हो जाता है । नाश व लय में भेद है । नाश में वस्तु असत् हो जाती है । लय में वस्तु नाश नहीं होती किन्तु अविद्या में लीन हो जाती है । अहंकारादि और उनके ज्ञान को ही अध्यास कहते हैं ।

दीपक जैसे अपने को प्रकाश रूप जनाने के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाश करता है, उसी प्रकार उससे उल्टी प्रकार अज्ञान स्वयं ढका हुआ होकर भी अपने आश्रय आत्मा को भी ढकता है इसलिए बंध का अध्यास होता है क्योंकि सामान्य चेतन अज्ञान का विरोधि नहीं है ।

## प्रश्न ३४ -वेद किन छह सत्ता को अनादि मानता है ? और क्यों मानता है ?

**उत्तर -** वेद का सिद्धान्त है कि (१) ब्रह्म चैतन्य (२) ईश्वर (३) जीव (४) अविद्या (५) अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध (६) इन पाँचों अनादि वस्तुओं का आपस में भेद । ये छह वस्तुएँ स्वरूप में अनादि हैं । जिस वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती वह वस्तु स्वरूप से अनादि कहलाती है ।

**(१) ब्रह्म :** इसे कौन उत्पन्न करेगा ? अविद्या, ईश्वर या जीव ? उसमें अविद्या तो उसी के सहारे टिकी है वह भला अपने आधार को कैसे उत्पन्न करेगी ? बेटा अपने बाप का कारण तो बन नहीं सकता । ब्रह्म तो अविद्या का अधिष्ठान है । यदि अविद्या से वह उत्पन्न माना जाय तो वह अविद्या के पहले नहीं होगा तब उसके अभाव में अविद्या किसके सहारे रहेगी ? अतः अविद्या से पहले ब्रह्म का होना मानना ही होगा । इसी प्रकार ईश्वर और जीव भी ब्रह्म के बिना सिद्ध नहीं होते । उनसे भी पूर्व स्थित ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं बन सकती । इसलिये यह ब्रह्म अनादि ही है ।

**(२) अविद्या :** इसकी भी ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं बन सकती क्योंकि ब्रह्म अविकारी है । इसलिये उससे अविद्या की उत्पत्ति बन ही नहीं सकेगी । ईश्वर और जीव की सिद्धि तो माया, अविद्या के होने से ही होती है । ईश्वर या जीव तो अविद्या की उत्पत्ति नहीं कर सकते इसलिये यह अविद्या भी अनादि है ।

**(३) ईश्वर :** जगत् स्रष्टा की सृष्टि कौन करेगा ? केवल ब्रह्म तो किसी का उत्पादक ही नहीं है और न केवल अविद्या ही, दोनों मिलकर तो ईश्वर ही बन जाते हैं । अपने आपको आप ही कैसे पैदा कर सकेंगे । जीव की सिद्धि भी अन्तःकरण उपाधि के अधीन है । अन्तःकरणादिक की उत्पत्ति भूतों के सत्वगुण से है सो वह जड़ है । उससे ईश्वर की उत्पत्ति हो नहीं सकती । इसलिये ईश्वर भी अनादि है ।

**(४) जीव :** जीव को कौन उत्पन्न करेगा ? ईश्वर या माया ? यदि जीव नहीं तो उसके अदृष्ट याने संचित पुण्य-पाप कर्म भी नहीं होंगे। तो फिर ईश्वर उसे अकारण जन्म-मृत्यु का दुःख भोगने को क्यों उत्पन्न करेगा ? माया भी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकती यदि जीव पूर्व न हो तो किसकी प्रेरणा से किस हेतु से दुःख भोगने जीव को बनावेगी अतः जीव भी अनादि है ।

**(५) अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध :** यह सम्बन्ध भी अनादि है क्योंकि ब्रह्म तथा अविद्या अनादि हैं । इसलिये उनका तादात्म्य सम्बन्ध भी अनादि है, अतः उनसे भी सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अनादि पदार्थों का सम्बन्ध सादि (प्रारंभ होने वाला) नहीं हो सकता । फिर ईश्वर, जीव, और प्रत्येक का परस्पर भेद इन तीन की सिद्धि का आधार इस सम्बन्ध के ऊपर ही है । इसलिये इन तीन से सम्बन्ध की उत्पत्ति सम्भव नहीं क्योंकि अधिष्ठान भी हो और अध्यस्त भी हो और उनका सम्बन्ध न हो ऐसा हो नहीं सकता । अस्तु, यह सम्बन्ध भी अनादि है ।

**(६)** उक्त पाँचों अनादि वस्तुओं का भेद भी अनादि मानाना होगा । अन्यथा पाँचों का भेद नहीं तो पाँचों अभिन्न होगें । उनकी अभिन्न अवस्था बन नहीं सकती क्योंकि जड़-चेतन का अभेद कैसा ? यदि उनका अभेद मान भी लें तो एक अभेद तत्त्व होगा । उसका किससे व किसका भेद बताया जायगा ? अनुयोगी तथा प्रतियोगी का नाम भी न हो और उनका भेद सिद्ध हो जावे यह नितान्त असम्भव बात है ।

यदि इन पाँचों की उत्पत्ति अपने-अपने में से मानें तो ''आत्माश्रय'' दोष होता है । क्योंकि क्रिया का कर्ता और कर्म भिन्न होना चाहिये । एक होने से आत्माश्रय दोष आता है । जैसे कोई कहे मैं अपने कन्धे पर बैठ नदी के पार गया था ऐसा वचन आत्माश्रय दोष कहलाता है ।

अतः ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या और चैतन्य तथा अविद्या का सम्बन्ध तथा इनका परस्पर भेद इन छह में से ब्रह्म तो अनादि अनन्त है क्योंकि उसका तीनों काल में किसी प्रकार अभाव नहीं होता है । अविद्यादि पाँच पदार्थ अनादि तो हैं किन्तु उनका ज्ञान से बाध हो जाता है इसलिये ये पाँचों शान्त (अन्त वाले) हैं ।

**प्रश्न ३५ -सर्व प्रथम सृष्टि कब उत्पन्न हुई ?**

**उत्तर-** संसार का प्रवाह अनादि होने से उसका प्रारम्भ भी नहीं कहा जा सकता है । यह बीजांकुर न्याय की तरह ही है, जैसे बीज प्रथम या अंकुर (वृक्ष) । बिना वृक्ष के बीज नहीं हो सकता किन्तु बीज बिना वृक्ष भी नहीं हो सकता । तो सर्व प्रथम बीज है या वृक्ष है । अस्तु, इसे प्रवाह रूप अनादि ही माना जावेगा । ऐसा कोई समय नहीं जब प्रथम बीज हुआ हो क्योंकि प्रथम बीज का कारण वृक्ष प्रथम होना चाहिये और प्रथम वृक्ष के बीज प्रथम होना चाहिये । इसी प्रकार यदि प्रथम संसार का कारण ही न होगा तो प्रथम संसार कैसे उत्पन्न होगा ? क्योंकि कारण बिना कार्य सृष्टि कभी नहीं हो सकती । इस प्रकार अनादि काल से सर्व वस्तुओं का प्रवाह भी अनादि ही है । क्योंकि सर्व वस्तुओं का प्रवाह कभी दूर नहीं हो सकता । अनादिकाल से आज तक की सृष्टि में ऐसा कभी नहीं हुआ कि जब गेहूँ, धान, चना, फल, खनिज पदार्थ पंचभूत न रहे हों । प्रलय काल में भी सुषुप्ति की तरह सर्व वस्तुएँ संस्कार बनी ही रहती हैं । जैसे गर्मी के दिनों में सब और सूखा दीखते रहने पर भी घास वनस्पतियों के बीज विद्यमान ही रहते हैं जो वर्षा होते ही अंकुरित हो जाते हैं ।

जैसे रस्सी में साँप का भ्रम यह भी आज का नया नहीं है बल्कि अनादिकाल से ही रस्सी में साँप का भ्रम होता चला आ रहा है । परन्तु अधिष्टान रस्सी के ज्ञान हो जाने के बाद रस्सी में सर्प तीनों काल में नहीं था ऐसा भी दृढ़ निश्चय हो जाता है । उसी प्रकार आत्मा में अहंकार तथा अनात्म पदार्थों का आरोप प्रवाह रूप से अनादि सिद्ध प्रतीत होता है किन्तु

अधिष्ठान रूप ब्रह्म का ज्ञान होने के बाद तीनों काल में प्रपंच था ही नहीं ऐसा दृढ़ बोध होता है । इसीलिये प्रपंच को प्रवाह रूप से अनादि शान्त कहने में आता है ।

ऐसा ज्ञान जिसको नहीं होता उसे ही ऐसी शंका होती है कि प्रथम अध्यास के पूर्व कोई अध्यास होता नहीं । किन्तु सिद्धान्त में तो कोई अहंकारादिक वस्तु का अध्यास सर्व प्रथम है ही नहीं, किन्तु समस्त अध्यास बिजांकुर न्याय की तरह अपने-अपने, पहले-पहले के अध्यास से ही सभी बाद में उत्पन्न हुए होते हैं । याने पूर्व - पूर्व अध्यास का संस्कार ही उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) अध्यास का कारण है, इस प्रकार सृष्टि का प्रवाह अनादि है, प्रारम्भ नहीं बनता ।

**प्रश्न ३६ - आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है । उसमें अज्ञान कैसे ठहर सकता है ? अन्धकार तथा प्रकाश की तरह परस्पर विरोधी धर्म है ।**

**उत्तर -** आत्मा ज्ञान स्वरूप है, यह बात सत्य है किन्तु ज्ञान दो प्रकार का होता है । एक सामान्य ज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह सर्वत्र समान है तथा दूसरा विशेष ज्ञान दर्पण में सूर्य के प्रतिविम्ब की तरह विशेष प्रकाश रूप है।

सामान्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं हैं क्योंकि यह नियम है कि सामान्य तत्त्व किसी का विरोधी नहीं होता । यदि आत्मा का सामान्य ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता तो सुषुप्ति काल में प्रकाश रूप आत्मा में जो अज्ञान प्रतीत होता है वह नहीं होना चाहिये था किन्तु वह तो अज्ञान का सहायक है, उसे प्रकाशित करता है, दिखाता है । सामान्य ज्ञान सर्व मनुष्यों में है किन्तु मैं अज्ञानी हूँ, मैं अपने को जानता नहीं, मेरी मुझको खबर नहीं, मैं सुख से सोया था किन्तु मैंने कुछ भी नहीं जाना, कुछ पता नहीं चला इत्यादि अज्ञान तथा उसके कारणभूत देहाध्यास का वह सामान्य ज्ञान विरोधी नहीं है । इसलिये सामान्य ज्ञान

अज्ञान तथा उसके कार्य को नष्ट नहीं करता है । यदि ज्ञान स्वरूप आत्मा अज्ञान का विरोधी होता तो कभी भी अज्ञान एवं उसके कार्य की प्रतीति ही किसी को नहीं होती किन्तु सब को अज्ञान की प्रतीति अनुभव सिद्ध ही है । इसलिये सामान्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं और तू आत्मा भी सामान्य ज्ञान रूप है उसमें अज्ञान से कल्पित नाम, रूप भासित होते हैं । अन्तःकरण की वृत्ति में रहे चैतन्य को विशेष चैतन्य कहते हैं और वही अज्ञान का विरोधी है याने जब कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सत्गुरु द्वारा वेदान्त महावाक्य का श्रोत्र सम्बन्धी उपदेश से 'मैं सच्चिदानन्द रूप आत्म ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि की वृत्ति उत्पन्न होती है इसे ही विशेष ज्ञान कहते हैं । उसी उदय विशेष ज्ञान से अज्ञान की वृत्ति कि मैं अज्ञानी हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ, जन्म-मृत्युवान् हूँ, पुण्यात्मा - पापात्मा हूँ, सुखी दुःखी हूँ इत्यादि अज्ञान देहाध्यास को दूर कर देता है ।

**दूसरा दृष्टांत** - जैसे सूर्य का सामान्य प्रकाश काष्ठ, तृण, आकाश आदि समस्त पदार्थों पर पड़ता है । उस प्रकाश में सामान्य उष्णता भी रहती है, वह किसी को जलाती नहीं है, बल्कि उसके प्रकाश से सबका दर्शन ही होता है । लेकिन जब सूर्य के प्रकाश का सूर्यकान्त मणि, मेगनीफाइंग ग्लास द्वारा किसी कागज, रूई, पत्र, घास, माचिस तिली पर एक सूक्ष्म बिन्दु के रूप में किरणों को केन्द्रित कर डाला जाता है तो उससे विशेष अग्नि उत्पन्न होकर उस वस्तु को जला देती है । चकमक पत्थर, लकड़ी या माचिस में सामान्य अग्नि तो उसको तिलियों में विद्यमान है किन्तु वह किसी को नहीं जला सकती । जब मन्थन रूप क्रिया करते हैं तब वह विशेष अग्नि लकड़ी या माचिस की तिली से उत्पन्न होता है । अथवा बिजली के तारों में सामान्य अग्नि तो है किन्तु वह उन तारों को नहीं जलाती, जब हीटर यन्त्र के क्वाइल में बिजली के निगेटिव पाजेटिव दोनों तार लगा दिये जाते हैं तो वह अग्नि प्रकट कर देती ह, पानी गरम हो जाता है ।

उसी प्रकार सामान्य ज्ञान तो प्राणी मात्र में है फिर भी किसी का अज्ञान दूर नहीं करता किन्तु जब गुरु शास्त्र के उपदेश से विचार रूप मन्थन से 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप हूँ' ऐसा विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है तभी वह अज्ञान अपने कारणभूत जो देहाध्यास के सहित निवृत हो जाता है । और वह वृत्ति में उत्पन्न विशेष ज्ञान भी अज्ञान को निवृत्त कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है । इसलिये द्वैत की भी सिद्धि नहीं होती । जैसे विशेष अग्नि उत्पन्न होकर लकड़ी आदि वस्तु को जलाकर स्वयं भी सामान्य अग्नि मे ही लय हो जाती है या निर्मली की जड़ का चूर्ण गन्दे पानी में ड़ालने से वह मिट्टी को नीचें बैठाकर स्वयं भी नीचे बैठ जाती है। उसी प्रकार विशेष ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करके स्वयं भी उसी सामान्य ज्ञान में लय को प्राप्त हो जाता है ।

**प्रश्न ३७ - कर्म का क्या रहस्य है ?**

**उत्तर -** कर्म रूपी बीज में से दो अंकुर फूटते हैं। एक वासना तथा दूसरा अदृष्ट याने धर्म - अधर्म । शुभ कर्मों के करने से शुभ वासना तथा धर्म रूपी अंकुर उत्पन्न होता है और अशुभ कर्म से अशुभ वासना तथा अधर्म रूपी अंकुर उत्पन्न होता है ।

शुभ वासना से आगे भी शुभकर्म में प्रवृत्ति होती है और उससे धर्म द्वारा सुख भोग होता है । अशुभ वासना से अशुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है और उससे अधर्म द्वारा दुःख भोगना पड़ता है ।

**(१)** वासना रूपी अंकुर का तो सत्संग द्वारा या कुसंग द्वारा नाश हो सकता है किन्तु,

**(२)** अदृष्ट (धर्म - अधर्म) रूपी अंकुर का तो फल की उत्पत्ति बिना किसी भी प्रकार से नाश नहीं हो सकता ।

अशुभ कर्म से उत्पन्न हुई अशुभ वासना रूपी अंकुर का सत्संग आदि शुभ कर्म के उपाय से नाश हो जाता है । शुभकर्म से उत्पन्न हुई शुभ वासना रूपी अंकुर का कुसंग आदि अशुभ कर्म से नाश हो जाता

है। शुभ अशुभ कर्म में प्रवृत्ति कराने वाली वासना है और इन वासनाओं का नाश करने के लिये शास्त्र में अनेक उपाय कहे हैं और भोग का हेतु प्रारब्ध कर्म (अदृष्ट) वह तो बिना फल दिये नाश नहीं होता है । अस्तु ! अज्ञानी के कर्म की निवृत्ति फल भोग बिना नहीं होती। सकाम कर्म अन्त:करण की मलिनता तथा निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है ।

**प्रश्न ३८ - ज्ञानी को कर्म बन्धन होता है या नहीं, यदि नहीं तो क्यों ?**

**उत्तर -** ज्ञानी के कर्म तो बिना भोग के ही निवृत्त हो जाते हैं । क्योंकि कर्म, कर्ता तथा फल परमार्थ से (वास्तविक रीति से) तो है ही नहीं किन्तु अविद्या से कल्पित है । उस अविद्या का विरोधी ज्ञान है इसलिये अविद्या से कल्पित हुए जो कर्मादि हैं उनका भी ज्ञान से नाश हो जाता है। जैसे स्वप्न में निद्रा से जो पदार्थ प्रतीत होते हैं उन पदार्थों का जाग्रत काल में अभाव स्वत:सिद्ध है । उसी प्रकार अविद्या रूप निद्रा से जो कर्म, कर्ता ओर फल प्रतीत होता है उसका भी ज्ञान दशा रूपी जाग्रत अवस्था में अविद्या की निवृत्ति से कर्म, कर्ता और फल का अभाव होता है और बिना ज्ञान के ऐसा अभाव किसी और साधन से नहीं हो सकता, जैसे कि जाग्रत हुए बिना स्वप्न प्रपंच की निवृत्ति अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती । अस्तु ! ज्ञानी को कर्म बन्धन एवं कर्म फल नहीं होता और ज्ञान के बिना कर्म फल बिना भोग दिये किसी भी अन्य साधन से निवृत्त नहीं हो सकते । ज्ञान से ही सर्व पापों का नाश होता है। ज्ञानी को कर्म में कर्तत्वाभिमान न होने से उसके द्वारा होने वाले कर्म निर्बीजता को प्राप्त हो जाने से बन्धन रूप नहीं होते हैं ।

**प्रश्न ३९- काम्य कर्म करने के पश्चात् फल की इच्छा मिट जावे तो क्या परिणाम होगा ?**

**उत्तर-** फल की इच्छा रखे बिना या इच्छा रखकर जो भी कर्म किया जायेगा उसका फल तो कर्म कर्ता को अवश्य ही भोगना पड़ता है । क्योंकि

कर्म कभी भी निष्फल नहीं जाता है। इसमें भेद केवल इतना ही है कि जो इच्छा रहित कर्म करता है उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है और जो इच्छा सहित कर्म करता है उसे उस कर्म का फल तो मिलता है किन्तु अन्तःकरण अधिक भोग की वासना करने से मलिन होता जाता है।

**(१)** यदि इच्छा रहित याने निष्काम कर्म करके अन्तःकरण शुद्ध होने के बावजूद भी वेदान्त श्रवण करने का योग न आने से या अन्य किसी प्रतिबन्ध के कारण उसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तो फिर उसका निष्काम कर्म का फल भोग सकामी कर्म कर्ता की तरह मिलेगा ही, निष्फल नहीं जावेगा।

**(२)** यदि इच्छा रहित कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होकर श्रवण करने से ज्ञान हो गया तो उसे कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों का नाश हो जाता है ऐसा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के ३७ वे श्लोक में निरुपण किया है-

**'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'**

किन्तु अज्ञानी को भी कर्म करने के पश्चात् उसके फल की इच्छा का अभाव मात्र से फल भोग नहीं होगा ऐसा मान लेंगे तो ईश्वर का संकल्प मिथ्या हो जायेगा और श्रुति में ईश्वर को सत्यकाम, सत्य संकल्प (छान्दोग्य उप. ८-१-५) में कहा है । क्योंकि फल भोग के बिना अज्ञानी के कर्म की निवृत्ति नहीं होती ऐसा ईश्वर का संकल्प है। फिर कोई भी अशुभ कर्म का फल दु:ख तो नहीं चाहता किन्तु दुःख सबको मिलता ही है और ईश्वर का सत्य संकल्प रूप होने से ऐसी अनादि काल से विधि है कि ज्ञान के बिना कर्म के फल का अभाव नहीं होता तथा ''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'' (मुण्डकोपनिषद - २-२-८) ज्ञानी के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं । अस्तु ! ज्ञान हो जाने से काम्यकर्म का भी फल नहीं भोगना पड़ता है, किन्तु ज्ञान के अभाव में निष्काम कर्म का भी फल भोगना पड़ता है ।

## प्रश्न ४० - संचित् कर्म किसे कहते हैं तथा वे क्या एक जन्म में भोगे जा सकते हैं ?

**उत्तर** - फलेच्छा से अनादि काल से किये कर्म जिनका अभी फल नहीं भोगा है ऐसे कर्म बीजों को ही संचित् कर्म कहते हैं और वे अनादिकाल के प्रवाह रूप जन्म - मरण के अनन्त कर्म होते हैं । उन्हें एक जन्म में या अनेक जन्म में अनेक शरीर धारण करके भी नहीं भोगा जा सकता है। यद्यपि योगी लोग सिद्धि के बल से एक ही समय में अनेक शरीर धारण कर अनेक भोग, भोग सकते हैं किन्तु उनको भी बिना ज्ञान हुए मोक्ष नहीं मिल सकेगा । ऐसा वेद का सिद्धान्त है । हाँ, ज्ञान द्वारा अनादिकाल के समस्त संचित् कर्मों का नाश हो जाता है ।

## प्रश्न ४१- श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के क्या लक्षण हैं ?

**उत्तर** - जो गुरु वेद के अर्थ को भली - भाँति जानता हो कि कर्म का क्या रहस्य है ? उपासना का क्या रहस्य है ? और ज्ञान का क्या फल है ? वेद का अभिप्राय कर्म तथा उपासना को सत्य सिद्ध करने में है अथवा कर्म द्वारा आत्मा की अमरता का विश्वास उत्पन्न करा देने में है ? उपासना का फल चित्त की एकाग्रता में है या दिखाऊ शोभायुक्त फलों एवं लोकों की सत्यता में है ? अस्तु ! वेद अर्थ को भली प्रकार जानने के साथ - साथ वह आत्मा और ब्रह्म को एक रूप से पहचानता हो । क्योंकि भेद तो जगत् प्रख्यात है एवं अज्ञानी को भी दीखता है किन्तु जो भेद में अभेद का भेद अर्थात् रहस्य समझा दे कि समस्त द्वैत कल्पित है, एक द्रष्टा ही सत्य है, वही गुरु कहलाने योग्य है जो स्वयं परम सत्य को नहीं जानता होगा वह दूसरों को कैसे बतला सकेगा ? गुरु पाँच प्रकार के भेद बुद्धि का नाश करने वाला होता है । वह द्वैत रहित निर्मल ब्रह्म का साक्षात्कार करा देता है एवं ''संसार मृगतृष्णा की भाँति झूठा है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं'' ऐसा सर्वदा उसके पास आनेवाले जिज्ञासुओं को दृष्टान्त, युक्ति तथा शास्त्र प्रमाण द्वारा निश्चय कराता रहता हो, वही

गुरु अद्भूत उपदेश करने योग्य है । केवल शिखा काटने वाला, कान फूँकने वाला, वाल उखाड़ने वाला गुरु उपदेष्टा नहीं हो सकता है ।

आत्मज्ञान में स्थित ही आचार्य हो सकता है । जिसने वेद तो पढ़ लिया है पर आत्म ज्ञान में निष्ठा नहीं है वह आचार्य नहीं हो सकता है । और जिसकी ज्ञान में निष्ठा है पर वेद नहीं पढ़ा वह भी आचार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं मुक्त होते हुए भी जिज्ञासु की शंका का निवारण शास्त्र, प्रमाण एवं युक्तियों द्वारा नहीं कर सकेगा । हाँ, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, गुरु वचन में पूर्ण विश्वास है, शंका रहित है उसे उपदेश कर भी सकता है एवं वह श्रद्धालु, उस ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा अपना कल्याण भी कर सकता है परन्तु ऐसे गुरु सबको उपदेश करने योग्य नहीं होता है । इसीलिये गुरु श्रोत्रिय, याने वेद अर्थ को भलीप्रकार जाननेवाला तथा ब्रह्मनिष्ठ याने जिसकी ब्रह्मात्मा में पूर्ण निष्ठा है; ऐसे दो विशेषणों वाला गुरु ही उपदेश करने योग्य है।

**प्रश्न ४२ - पांच प्रकार के भेद कौन से हैं तथा सत्गुरु उन भेदों का नाश किन युक्तियों द्वारा करा देता है ?**

**उत्तर -** जिज्ञासु की बुद्धि में पांच प्रकार का भेद बना रहता है । उसको नाना प्रकार की युक्तियों से जो दूर करने में समर्थ होता है वही आचार्य कहलाता है । वे पांच प्रकार के भ्रम इस प्रकार हैं -

**(१)** जीव - ईश्वर का भेद **(२)** जीव - जीव का परस्पर भेद **(३)** जीव - जड़ का भेद **(४)** ईश्वर और जड़ का भेद

**(५)** जड़-जड़ का परस्पर भेद ।

श्रुति में भेद ही भय का कारण बतलाया है । बुद्धि में जब तक नानात्व बना रहेगा तबतक अभय पद को प्राप्त नहीं कर सकेगा । इन भेदों की अनुमान रूप युक्तियाँ इस प्रकार हैं :

**(१) जीव - ईश्वर का भेद :** जीव तथा ईश्वर भाव का भेद कल्पित है । अविद्या तथा माया उपाधि से एक ही चेतन में ईश्वर भाव

और जीव भाव बना है । घटाकाश तथा मठाकाश के भेद की तरह । इन दोनों उपाधियों को पृथक् करके देखे तो कोई भेद ही नहीं केवल एक महाकाशवत् शुद्ध चेतन ही हैं ।

**(२) जीवों का परस्पर भेद :** यह भी विभिन्न अन्तःकरण रूप उपाधियों के कारण भेद प्रतीत होता है । वस्तुतः चेतन में किसी प्रकार का भेद नहीं है । जैसे विभिन्न घटों में रहने वाला आकाश का भेद घट रूप उपाधियों के कारण ही प्रतीत होता है, स्वरूपतः आकाश तत्त्व में कोई भेद नहीं है । वैसे चेतन में भी कोई भेद नहीं है । अथवा जैसे तपे हुए लोहे के गोले को देखने से अग्नि का गोला प्रतीत होता है उसी प्रकार चैतन्य से प्रकाशित हुआ अन्तःकरण चैतन्य रूप भासित होता है उसे ही जीव कहते हैं। और अन्तःकरण नाना है इसलिये जीव - जीव का परस्पर भेद अज्ञानता से कल्पित है ।

**(३) जीव और जड़ का भेद :** जीव को स्वप्न में अनन्त जड़ - चेतन जगत् प्रतीत होता है, उसका भेद जिस प्रकार कल्पित है, उसी प्रकार समस्त नाम रूप इस एक ही चेतन में अध्यस्त है । अधिष्ठान के अतिरिक्त नाम रूपात्मक जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है । स्वप्न द्रष्टा को स्वप्न में कल्पित नाम, रूप भय उपाधि होने से दिखाई पड़ने वाले जाग्रत, स्थावर, जंगम पदार्थों की तरह भेद प्रतीत होता है । याने अज्ञानी को जड़ पदार्थों में अन्तःकरण व्यक्त न होने से उसमें चैतन्य का आभास प्रतीत नहीं होता है इसलिये उसे निराभास (जड़) कहते हैं और इधर जीव का रूप प्रतीत नहीं होता है, किन्तु जड़ पदार्थों का नाम रूप तो प्रतीत होता है, इस कारण उन्हें जीव व जड़ का भेद प्रतीत होता है । लेकिन स्वप्न द्रष्टा की सत्ता को छोड़ स्थावर, जंगम सब स्वप्न द्रष्टा में कल्पित है, अध्यस्त है । अत : इसी प्रकार जाग्रत के जड़ - जीव का भेद भी कल्पित है ।

**(४) ईश्वर तथा जड़ का भेद :** यह भेद भी कल्पित है । जैसे रस्सी में सांप, दंड, मालादि की कल्पना होने से उनका भेद भी

काल्पनिक है। ऐसे ईश्वर तथा जड़ सब अज्ञान का ही फल है । उनका भेद बन नहीं सकता । साक्षी तथा स्वप्न जगत् के भेद की तरह ईश्वर व जड़ का काल्पनिक मिथ्या भेद है । साक्षी के अलावा जड़ स्वप्न जगत् की पृथक् सत्ता कुछ नहीं है । जागने पर स्वप्न जगत् किंचित् मात्र भी शेष नहीं रहता है केवल एक चेतन ही रहता है ।

**(५) जड़ -जड़ का परस्पर भेद :** - यह भेद भी कल्पित है । स्वप्न के हाथी, घोड़ा तथा वृक्ष, पाषाण सब नाम रूप उपाधि की भिन्नता से भेद प्रतीत होता है, वैसे तत्त्वत : तो सब एक कल्पना ही है व कल्पित पदार्थों का आपस में भेद कहना हास्यास्पद ही होगा ।

इस प्रकार उपरोक्त पांच प्रकार की भेद - बुद्धि को जो सत्गुरु अपने उपदेश रूपी तलवार से जिज्ञासु को संसार रूपी मगर से छुड़ा लेता है ज्ञानी लोग उसे ही दैशिक (गुरु) कहते हैं । केवल बाह्य चिन्ह दण्ड, कमण्डलु, जटा, टाट, बाधम्बरधारी को गुरु नहीं कहते हैं । सब साधन या चिन्ह धर्म के हेतु तो नहीं, किन्तु भोले जीवों को ठगने के हेतु अवश्य उपयोगी हो सकते हैं या इन चिन्हों को देख सन्त के प्रति श्रद्धा उत्पन्न भी होती देखी जाती है ।

**प्रश्न ४३ - क्या शास्त्र पढ़कर जीव संशय रहित नहीं हो सकता ?**

उत्तर - **" आचार्यवान् पुरुषो वेदः"**

**वेद उदधि बिन गुरु लखै, लागै लौन समान ।**
**बादल गुरु मुख द्वार है, अमृत से अधिकान ॥**

वेद रूपी समुद्र का पाना जो बिना गुरु करे तो लवण द्वैत रूप के समान खारा लगता है । जैसे समुद्र के पास जाकर उसके जल से प्यास मिटाना चाहे तो वह केवल खारा ही अनुभव आने के कारण न तो तृप्ति का हेतु होगा और न आनन्द का ही हेतु हो सकेगा, वह तो केवल कष्ट का ही हेतु होगा । उसी प्रकार गुरु बिना जो वेद के अर्थ को पढ़कर विचार करते हैं अहंकार की प्राप्ति के साथ भेद रूपी खराश का ही अनुभव

होता है । जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें जन्म-मरण रूपी क्लेश की ही प्राप्ति होती है ।

जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करने वाले एवं उपदेश करने वालों के पास भी यदि वेद को पढ़ा तो भी अखंड आत्म बोध नहीं होगा । जीव - ब्रह्म की एकता का जो उपदेश करते है वे ही गुरु बनने के याने जिज्ञासुजनों को उपदेश करने के अधिकारी हैं ।

जगत्‌गुरु रामानुज, माधवाचार्य, निम्बाकाचार्य आदि के भी गुरु भेदवादी होने से वे भी भेदवाद का ही उपदेश करते थे । इसलिये उन्हें अपने गुरु तथा शिष्यों को जन्म - मरण रूपी क्लेश की ही प्राप्ति हुई, किन्तु मुक्ति को प्राप्ति नहीं, क्योंकि भेद में आग्रह रखने वाले को भय की ही प्राप्ति होती है ।

इसी प्रकार और भी जो व्यक्ति किसी भी भेदवादी गुरु के पास वेद को पढ़ेगा या अपने आप उसका अर्थ विचार करेगा वह भी भेद रूपी क्षार का अनुभव करके जन्म - मरण रूपी क्लेश को ही प्राप्त होगा। इसलिये जो बादल रूप ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख से ही सुनकर वेद के अर्थ का विचार करते हैं, उनको वेद अमृत से भी ज्यादा आनन्द प्रदान करने वाला होगा। जैसे समुद्र का पानी स्वभाव से खारा होकर भी बादलों द्वारा मधुर हो जाता है, उसी प्रकार वेद का अर्थ ब्रह्मज्ञानी गुरु के द्वारा श्रवण होने पर ही आनन्द का हेतु है ।

यदि समुद्र के पानी को चमड़े के पात्र मसक (चमड़े की बोतल) में भरकर लावे तो भी वही खराश आती है । विलक्षण आनन्द का अनुभव नहीं होता । अस्तु ! ज्ञानी गुरु जो मेघ के समान है उनके द्वारा ही वेद के अर्थ को सीखना चाहिये, किन्तु चमड़े के पात्र की तरह अज्ञानी गुरुओं को तो दूर से ही नमस्कार कर छुट्टी ले लेनी चाहिये । इन द्वैत बुद्धि वालों के शरण से छुटकारा मिल गया तो तुम मुक्त हुए ही समझो । भेदवादी की शरण ही बन्धन एवं भय का मुख्य कारण है । क्योंकि इन्होंने ही भेद का उपदेश कर करके जीवके देहाध्यास को दृढ़ कराया है ।

**प्रश्न ४४ - क्या वेदवाणी संस्कृत तथा वेद पुस्तक से ही ज्ञान हो सकता है अन्य से नहीं ?**

**उत्तर -** ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप है, यह बात श्रुति में प्रसिद्ध है । इसलिये वह चाहे संस्कृत भाषा में उपदेश करे या अन्य मातृभाषा में समझावे उसमें कोई भेद नहीं पड़ता है । उससे भेद रूपी भ्रम का नाश हो ही जाता है । अर्थात् आत्म - स्वरूप के प्रतिपादक वाक्य ही बोध का कारण है फिर भले वे किसी भी भाषा के क्यों न हो ।

वेद के वचन के अलावा ज्ञान नहीं होगा ऐसा भी नियम नहीं है। वस्तु पदार्थ का बोध तो किसी भी भाषा से हो सकता है । जैसे संस्कृत में 'आप' शब्द को हिन्दी में जल, पानी, नीर, सलिल, अम्बु, उदक, वारि इत्यादि कहते हैं और सबको जल का गुण शीतलता एवं तृप्ति तृष्णा की निवृत्ति फल समान ही प्राप्त होता है । चाहे जिस भाषा के शब्दोच्चारण द्वारा वस्तु प्राप्त कर ग्रहण करने से समान ही लाभ होता है । हाँ उपासना मार्ग में सकाम कर्मों में मंत्रोच्चारण को उसी निश्चित स्वर व्यंजन के ताल क्रम के अनुसार ही उच्चारण होने पर मंत्र - सिद्धि है । वहाँ भाषा परिवर्तन नहीं कर सकते न पर्यायी शब्द का ही प्रयोग हो सकता है किन्तु ज्ञान में भाषा बन्धन नहीं है । ज्ञान वस्तु एवं प्रमाण के आधीन है, फल उपासना, श्रद्धा, नियम, विधि अनुसार होता है ।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में कहे गये रोगों का निदान औषधि का ज्ञान संस्कृत या अन्य हिन्दी, फारसी या गुजराती भाषा से भी हो सकता है । उसी प्रकार सबका आत्मा जो ब्रह्म है उसका ज्ञान भी सभी भाषा ग्रन्थों से हो सकता है। इसलिये सर्वज्ञ मुनियों ने स्मृति, पुराण और इतिहास ग्रन्थों में भी ब्रह्मविद्या के प्रकरण का वर्णन किया है । जो ज्ञान वेद बिना होता न हो तो समस्त ग्रन्थ व्यर्थ सिद्ध होंगे। अस्तु ! आत्मब्रह्म के प्रतिपादक वाक्य सर्वत्र ग्राह्य हैं, फिर भले कोई भी भाषा के ग्रन्थ क्यों न हो।

**प्रश्न ४५ - ज्ञान के लिये गुरु के पास जावे किन्तु उनकी सेवा करने से क्या लाभ ? शास्त्र में गुरुसेवा पर क्यों बल दिया गया है ?**

**उत्तर -** ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरुप ही होता है ।

**मोते संत अधिक कर लेखा ।**
**राम ते अधिक राम कर दासा ॥**

**गुरु गोबिन्द दोऊ खेड़, काको लागों पाँव ।**
**बलिहारी वा गुरु की जिन्ह गोविन्द दियो जनाय ॥**

**'गुरु साक्षात् परं ब्रह्म ।'**

इत्यादि शास्त्र प्रमाण हैं । इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष की वाणी भी ब्रह्मवाणी के समान होने के कारण जिज्ञासुओं को आचार्य की सेवा करनी चाहिये । और जब प्रसन्न मुद्रा देखें तब ही उनसे अपने कल्याण हेतु उपदेश की प्रार्थना करे । भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता ४।३४ में अर्जुन के गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त करने की यही विधि बतलायी है -

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥**

गीता ४।३४

इसलिये तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जाने । वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस दिव्य ज्ञान का उपदेश करेंगे जिसको जानकर फिर तू इस मोह सागर से पार हो सकेगा। फिर अपने ही अर्न्तगत समष्टि के भूतों को देखेगा ओर सोऽहम् रूप एकीभाव को प्राप्त होगा।

ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य की सेवा ईश्वर की सेवा से भी अधिक है, क्योंकि ईश्वर की सेवा अदृष्ट (कालान्तर के

बाद) फल की हेतु है और गुरु की सेवा दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा अदृष्ट (परोक्ष) दोनों फल की हेतु है ।

जो वस्तु धर्म या अधर्म की उत्पत्ति द्वारा फल प्रदान करने वाली होती है वह अदृष्ट फल की हेतु कहलाती है । जैसे ईश्वर की सेवा धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्त ःकरण को शुद्धि रूप फल का हेतु है । इसलिये ईश्वर की सेवा अदृष्ट फल की हेतु है ।

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्था : प्रकाशन्ते महात्मनः ॥**

: श्वे ६/२३

जो वस्तु धर्म या अधर्म की उत्पत्ति किये बिना साक्षात् फल का हेतु होती है वह दृष्ट फल की हेतु कहलाती है । जैसे अग्नि, भोजन, अंग छेदन, अंगदाहन आदि ।

आचार्य की सेवा धर्म की अपेक्षा रखे बिना आचार्य की प्रसन्नता मात्र से उपदेश रूपी फल का हेतु है, इसलिये दृष्ट फल का हेतु है । और धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल का भी हेतु है याने अदृष्ट फल की भी हेतु है । इस लिये आचार्य सेवा ईश्वर सेवा से भी श्रेष्ठ होने के कारण जिज्ञासु जनों को आचार्यवान् पुरुष का सब प्रकार से सेवा करनी चाहिये । वे त्रिदेव तुल्य है ।

जब गुरु के दर्शनार्थ जावे तो साष्टांग प्रणाम करे तथा उनके चरणों की रज को मस्तक पर धारण करे ।

दोनों पैर, दोनों घुटने दोनों हाथ, छाती तथा मस्तक मिलकर आठ अंग होते हैं और दण्ड की तरह पृथ्वी पर लेटकर प्रणाम करने को साष्टांग दण्डवत प्रणाम कहते हैं ।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**

गीता ४ / ३४

## प्रश्न ४६ - गुरु सेवा किस प्रकार की जावे ?

**उत्तर -** शरीर द्वारा गुरु की आज्ञा एवं अपनी ओर से उनकी प्रसन्नता हेतु सब प्रकार से सेवा करनी तथा उनकी आज्ञा का कभी भी अनादर न करना यही शरीर अर्पण सेवा है ।

अपने मन में गुरु के प्रति परमेश्वर की तरह प्रीति रखना चाहिये तथा गुरु किस प्रकार प्रसन्न हो बस यही इच्छा मन में सदैव रखनी चाहिये। और गंगा की तरह पवित्र, अग्नि की तरह शुद्ध तथा सूर्य की तरह अन्धकार नाशक गुरु में कभी दोष नहीं देखना चाहिये अथवा उनके आचरण में दोष दृष्टि भी नहीं करनी चाहिये किन्तु उन्हें त्रिदेव के तुल्य ही जानना चाहिये । जिस जिज्ञासु को अपना कल्याण करना हो वह गुरुमूर्ति का ध्यान अवश्य करे ।

गुरु यदि गृहस्थाश्रमी हो तो अपना समस्त धन गुरु को अर्पण करना चाहिये । यदि संन्यासी है तो समस्त परिवार धन आदि का त्याग कर उसकी शरण में जाना चाहिये । वह त्याग भी गुरु की सेवा तुल्य ही होगा । क्योंकि गुरु तो त्यागी होने से धन, सम्पत्ति स्वीकार करेंगे नहीं, किन्तु उनके निमित्त त्याग भी उनके अर्पण के समान ही है ।

गुरु की वाणी द्वारा कभी भी निन्दा व दोष चर्चा नहीं करना ही वाणी अर्पण के तुल्य है ।

जिस जिज्ञासु को अपना कल्याण करना हो वह किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ संत का तन, मन, धन, वाणी अर्पण करके बहुत समय तक याने गुरु का शरीर हो तब तक उनके पास आश्रम में या पास में रहना चाहिये ।

ब्रह्मचारी या संन्यासी हो तो भिक्षा मांगकर लावे व अपने हाथ से न लेकर गुरु के चरणों में समर्पित कर दे । गुरु जब अपने हाथ से दे तभी खावे । परीक्षा हेतु एक दो दिन न दे तो भी स्वयं फिर से भिक्षा मांगकर अलग से न खावे किन्तु दूसरे दिन जाकर पूर्व दिन की तरह

भिक्षा मांग उनको ही लाकर पुनः देवे और मनमें परीक्षा में सफल होने की उमंग आनन्द रखे किन्तु गुरु के द्वारा प्राप्त अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहार पर क्रोध या घृणा न करे । और प्रसन्न मुद्रा दीखे तब अपने कल्याणार्थ निःष्कपट भाव से प्रश्न करे कि भगवन् ! मैं कौन हूँ ? मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? इत्यादि ।

कदाचित् जन्मान्तर में उत्तम कर्म से गुरु कृपा प्राप्त करके वर्तमान में बिना तन, मन, धन, वाणी अर्पण किये उपदेश कर दें तो उससे भी शुद्ध अधिकारी का कल्याण हो जाता है । गुरु सेवा से दो फल सहज प्राप्त हो जाते हैं, प्रथम गुरु की प्रसन्नता से उपेदश रूप फल तथा अन्तःकरण की शुद्धि ।

जो इस प्रकार गुरु की तन, मन, धन तथा वाणी को अर्पण कर सेवा करता है वह उत्तम जिज्ञासु ही है, आत्मदेव उसकी सहायता करते हैं । जो शिष्य गृहस्थ है तो वह अपनी आय में से कुछ धन नियमित रूप से जमा करे और वह धन सेवा गुरु आज्ञानुसार सत्कर्म में वर्ते ताकि गुरु को शास्त्र मुद्रणार्थ एवं जीवन निर्वाह हेतु प्रवृत्ति में न जाना पड़े व उनके द्वारा जगत् कल्याण हेतु ज्ञान गंगा का सतत प्रवाह बना रहे ।

**प्रान ४७ - हमारे संसार रूपी दु:ख का नाश कैसे होगा ?**

**उत्तर -** हे आत्मन् ! परमानन्द प्राप्ति के लिये तथा जन्म - मरण आदिक जो संसार है उसकी निवृत्ति के लिये तुझको जो इच्छा है वह भ्रान्ति से ही हुई है। ऐसा तू निश्चय रख । तू अपने आप ही परमानन्द स्वरूप है। तुझ में किंचित् भी दु:ख नहीं है । तेरा जन्म भी नहीं उसी प्रकार मृत्यु भी नहीं अपितु तू चैतन्य ब्रह्म ही है ।

हे आत्मन् ! जो वस्तु अप्राप्त होती है उसकी प्राप्ति की इच्छा करना ही सम्भव होता है किन्तु जो वस्तु हमेशा अपने पास ही हो उसकी प्राप्ति की इच्छा सम्भव नहीं होती । तेरा अपना स्वरूप जो आत्मा है वह तुझको हमेशा प्राप्त ही है। अस्तु ! उसकी प्राप्ति की इच्छा जो तू करता है वह भ्रान्ति से ही है ।

जनम - मरण रूप संसार यदि वास्तव में ही सत्य होता तो उसकी निवृत्ति की इच्छा हो सकती थी किन्तु तेरे निजस्वरूप आत्म में तो जन्म - मरण रूप संसार है ही नहीं । जब दु:ख ही नहीं तो उसकी निवृत्ति की इच्छा करना भी तेरी भ्रान्ति ही है ।

हे आत्मन् ! जन्म और नाश रहित जो आनन्द स्वरूप चेतन ब्रह्म है वह तू ही है इसलिये तू अपने मन में जन्म - मरण के दु:ख को धारण मत कर याने चिन्ता न कर । और जो इस बन्धन भ्रान्ति निवृत्ति कराने वाले ज्ञान को छोड़कर कर्म, उपासना में प्रवृत होगा तो उसके परिणाम स्वरूप तेरा माना हुआ संसार बन्धन और दृढ़ ही होगा । क्योंकि जो वस्तु सत्य से न हो और भ्रान्ति से उत्पन्न हुई - सी प्रतीत हो उस वस्तु की निवृत्ति किसी कर्म द्वारा नहीं किन्तु केवल उस भ्रान्ति के अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है यह वेदान्त मत है ।

**प्रश्न ४८ - मैं यदि आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ तो मुझे विषयों के सम्बन्ध से आनन्द क्यों आता है फिर तो मुझे सदैव विषय बिना भी आनन्दानुभव होना चाहिये ?**

**उत्तर -** जिस व्यक्ति की बुद्धि आत्मा से विमुख होती है उसको विषय की इच्छा होती है । उसकी बुद्धि चंचल होती है और उस चंचल बुद्धि में आनन्द स्वरूप आत्मा का आभास नहीं पड़ पाता । किन्तु जब उस व्यक्ति को उसकी मन इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो उस वस्तु के अभाव में जो बुद्धि पाने हेतु चंचल हो रही थी वह अब वस्तु प्राप्ति पर स्थिर हो जाने के कारण उसमें आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है, इसलिये विषय से सुख मिलता हुआसा लगता है । किन्तु इस वास्तविकता को न जानने वाला अज्ञानी भ्रान्ति से विषयों को सुख रूप मान लेता है और इसी हेतु से वह फिर अन्य अन्य विषय की कामना करता है और उसकी प्राप्ति में आनन्द तथा वियोग होने पर कष्ट का अनुभव करता है । बुद्धि के नूतन वस्तु की इच्छा से चंचल हो जाने से

फिर वह पूर्व वस्तु से प्राप्त आनन्द का आभास अदृश्य हो जाता है । यह रहस्य बिना सत्गुरु के कोई स्वयं नहीं जान पाता ।

**यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जानई कोई ।**
**जो जानई सद्गुरुकृपा, सपनेहुँ मोह न होई ॥**

जिन लोगों को अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का सत्गुरु द्वारा पूर्ण बोध नहीं हुआ, उन लोगों की बुद्धि बाहर के पदार्थ में मोहित हो उन्हे पाने हेतु भटकती रहती है । उनको भोग के पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा होती है । भोग के पदार्थ को ही विषय कहते हैं और विषयों की कामना से मन चंचल हो जाता है । मन की चंचलता के कारण बुद्धि स्थिर नहीं रहती है । जैसे हिलते पानी में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब ठीक प्रकार नहीं पड़ता, उसी प्रकार चंचल बुद्धि में भी स्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है । किन्तु विषय प्राप्ति या ध्यान, समाधि द्वारा अन्तर्मुख वृत्ति होने पर ही आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है । विषय प्राप्ति से अन्तमुर्ख हुए मन पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से भ्रान्ति वश अज्ञानी उसे विषयों से प्राप्त आनन्द मान उस वस्तु के बने रहने की कामना करता है एवं वियोग में दु:खी होता है ।

**प्रश्न ४९ - विषयों में आनन्द नहीं है उसमें क्या प्रमाण है ?**

**उत्तर -** यदि विषयों में आनन्द होता तो दूसरे विषय की इच्छा होने पर भी पहले विषयानन्द का अनुभव होते ही रहना था । किन्तु ऐसा होता तो नहीं, इससे मालूम पड़ता है कि विषय में आनन्द नहीं है । और जो आत्मा को आनन्द स्वरूप मानते हैं उनके मत में यह बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि एक विषय में तृप्त होने के बाद जब दूसरे विषय की इच्छा होती है उस समय उसकी बुद्धि फिर चंचल हो जाती है । जिससे आत्मा का आनन्द रूप प्रतिबिम्ब पड़ता नहीं । इसलिये निरंतर आनन्द नहीं रहता याने आत्मानन्द का भान नहीं होता ।

यदि कदाचित् विषयों में आनन्द होता तो जिस पुरुष का प्रिय पुत्र अथवा अन्य कोई अत्यन्त प्रिय बहुत समय बाद अचानक मिले तो उसे देखकर प्रथम क्षण में जो आनन्द होता है, उसी प्रकार उस वस्तु या व्यक्ति के पास बने रहने पर भी अन्ततक आनन्दानुभूति होती रहती, किन्तु सदा नहीं होती । जो विषयों में ही आनन्द मानते हैं उनके मतानुसार आनन्द का हेतु वह धन, पति, पत्नी, पुत्रादि विषय तो उनके पास सदा उपस्थित ही है फिर आनन्द की प्राप्ति हेतु क्यों परेशान रहते हैं ? अस्तु ! प्रथम क्षण की तरह आनन्द अन्ततक नहीं रहता इससे सिद्ध होता है कि विषयों में आनन्द नहीं है ।

आत्मा में आनन्द माने तो यह बाधा खड़ी नहीं होती । क्योंकि जब प्रथम क्षण इच्छित वस्तु मिली तो आनन्द का आभास बुद्धि में पड़ा व बाद में इच्छा तृप्त होने के कारण व नवीन वस्तु की इच्छा से बुद्धि पुन: चंचल हो जाने से वह प्रथम वस्तु से मिलने वाला आनन्द नहीं भासता है, अस्तु विषय रूप पदार्थों में आनन्द नहीं ।

योगी के पास समाधिकाल में कोई विषय नहीं होता और विषय में ही यदि आनन्द होता तो उसे आनन्द नहीं भासना चाहिये था । यदि विषयों में ही आनन्द होता तो सुषुप्ति याने गाढ़ी निद्रा में सुख का अनुभव भी नहीं होना चाहिये था; क्योंकि सुषुप्ति में किसी प्रकार का विषय जन्य सुखतो है नहीं । अस्तु ! विषयों में आनन्द नहीं बल्कि आत्म स्वरूप आनन्द का ही सर्व को आनन्दानुभव में भान होता है । इसी वास्ते वेद में लिखा है कि आत्म- स्वरूप आनन्द को लेकर ही सब जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं ।

**प्रश्न ५० - अज्ञानी को विषय प्राप्ति से जैसे आनन्द मिलता है, ज्ञानी को विषय के सम्बन्ध से आनन्द का भान होता है या नहीं ?**

**उत्तर -** अज्ञानी ही आत्मविमुख होते हैं ऐसा नहीं किन्तु जब ज्ञानी की बुद्धि व्यवहार में उलझी रहती है तब वह भी आत्म स्वरूप को उतने

काल के लिये भूल जाता है और उस वक्त ज्ञानी भी आत्म विमुख हो जाता है। यदि ज्ञानी की बुद्धि सदा आत्माकार ही रहे तो देह सम्बन्धी आवश्यक भोजन, शयन, मलत्याग, स्नान, एवं लोक कल्याणार्थ शास्त्र रचना एवं मुमुक्षुओं को उपदेश आदि व्यवहार भी नहीं हो सकेंगे । किन्तु वह उपरोक्त कार्य अथवा राज्य, वाणिज्य, कृषि आदि कर्म करता है ऐसा शास्त्र कहते हैं । इस वास्ते अज्ञानी और ज्ञानी दोनों की बुद्धि व्यवहार काल में आत्म विमुख होती है तभी प्रवृत्ति हो पाती है ।

जिस प्रकार मन की वृत्ति जब जाग्रतरूप होती है उसी समय वह स्वप्नरूप नहीं होती और जब स्वप्नरूप होती है उसी समय जाग्रतरूप नहीं होती । इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी की बुद्धि भी जब अनात्माकार होती है तब आत्माकार नहीं होती और जब आत्माकार होती है तब अनात्माकार नहीं होती ।

यद्यपि एक अन्तःकरण में एक समय में ही भिन्न विषय रूप सामान्य और विशेष दो वृत्तियाँ रहती हैं, तथापि दोनों विशेष वृत्तियाँ एक समय में नहीं रहती हैं । इसी वास्ते अन्य व्यवहार में लगे मनुष्य की पेटी में रखे अपने धन की या घर परिवार की विस्मृति जान बूझकर स्वयं ही हो जाती है और जब वह अन्य काम से निवृत्त होता है तब उसे उस धन, घर, परिवार की स्मृति हो जाती है । उसी प्रकार ज्ञानी की बुद्धि भी व्यवहार में विशेष लगी होती है तब उसको भी तत्त्व का विस्मरण होता है, किन्तु जब वह कार्य से निवृत्त होता है तब उसे फिर प्रथम की तरह ही अपने तत्त्व का स्मरण होता है । इसी कारण से आचार्य शंकर भगवान् ने अपने शारीरिक भाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में लिखा है -

**''पश्वादिभीश्चा विशेषात्''**

अर्थात् व्यवहार काल में ज्ञानवान् भी पशु याने अविवेकी मनुष्य की तरह व्यवहार करता है ।

अर्थात् जैसे अज्ञानी सदैव आत्मा से विमुख रहता है उसी प्रकार ज्ञानी भी केवल व्यवहार करते समय उतनी ही देर आत्मा से विमुख रहता है। इसलिये उसको भी विषय से आनन्द भासित होता है विषय की इच्छा भी होती है ।

किन्तु ज्ञानी तथा अज्ञानी में भेद इतना ही है कि विषय के सम्बन्ध से जो आनन्द का भान होता है उसको ज्ञानी ऐसा जानता है कि यह जो आनन्द है वह मेरे स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है, बल्कि उसीका आभास मेरे मन, बुद्धि पर पड़ रहा है । इसी वास्ते ज्ञानी को विषय भोग में भी समाधि है ।

**यत्र यत्र मनो याते तत्र तत्र समाधयाः ।**
**देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः।।**

परमात्मा के ज्ञान से देहाभिमान के निवृत्ति होने से जहाँ-जहाँ विद्वान् का मन जाता है तो जाने दो, कोई चिन्ता की बात नहीं । उसकी वहाँ-वहाँ उस-उस कार्य में समाधि ही है अर्थात् एक अद्वितीय ब्रह्म, निजानन्द का ही अनुभव करता है । यह बात अज्ञानी नहीं जानता कि मेरा स्वरूप ही आनन्दरूप है । है तो दोनों का ही स्वरूप आनन्दरूप पर अज्ञानी को ही विषयों द्वारा सुख प्राप्ति की भ्रान्ति होती है, ज्ञानी को नहीं ।

ज्ञानी को विषय में जो समाधि कहा वह स्वरूप के अनुसंधान रूप समाधि के गुण की समानता के कारण कहा । जैसे भगवत् गीता के अध्याय १८ श्लोक १७ में कहा है कि आत्मज्ञानी सब संसार का हनन कर दे तो भी उसने कुछ नहीं किया ऐसा माना जाता है ।

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।**

## प्रश्न ५१ - ज्ञानी भोग में आसक्त क्यों नहीं होता ?

**उत्तर -** जैसे चोर को जानने के बाद उसके साथ में रहने वाला व्यक्ति, पुलिस सदा होशियार रहती है वैसे ही विषयों में दोष दृष्टि रूप विवेक के जाग्रत होने तथा विषयों में मिथ्यात्व बुद्धि रूप दृढ़ वैराग्य होने से विषय भोगते हुए भी ज्ञानी का आत्मानुसंधान बना ही रहता है ।

भोगमात्र परिणाम में दु:ख के ही हेतु होते है । ऐसा ज्ञान होने से विषयों में दृढ़ राग का अभाव होने से तथा विषयानन्द और स्वरूपानन्द में भेद नहीं देखता है । ऐसे भान से याने विषयानन्द में आत्मानन्द के प्रतिविम्ब सिवाय विषय में सर्वथा आनन्द का अभाव ही है ऐसे ज्ञान से ज्ञानी का स्वरूपानुसंधान बना हीं रहता है ।

इस प्रकार ज्ञानी के स्वरूपनुसंधान गुण की समानता के कारण ही ज्ञानी को विषय भोग में भी समाधि ही है ऐसा कहा जाता है । तात्पर्य यह कि -

**(१)** अज्ञानी सदा आत्म विमुख रहता है और विषय भोग से ही आनन्द प्राप्त होता है ऐसी उसकी मिथ्या भ्रान्ति होती है ।

**(२)** ज्ञानी व्यवहार काल में ही आत्मविमुख रहता है और विषयों को केवल बुद्धि को स्थिर करने का निमित्त मात्र साधन रूप ही मानता है । आनन्द तो आत्मा से ही प्राप्त होता है ऐसा उसे यथार्थ ज्ञान होता है । एक बार ज्ञान से अज्ञान आवरण नाश होने पर पुनः स्वरूप विस्मरण नहीं होता है ।

इस प्रकार का दृढ़ निश्चय अपने स्वरूप का होने के कारण ज्ञानी पुरुष विषय भोगते समय भी उसे सदाकाल आत्मा का आनन्द स्वरूप विस्मरण होता नहीं; याने मेरा आत्मा आनन्द रूप है ऐसा वह दृढ़ निश्चय से जानता रहता है ।

## प्रश्न ५२ - यदि आत्मा में जन्म - मरण दु:ख नहीं तो फिर यह किस कारण प्रतीत होता है ?

**उत्तर -** हे आत्मन् ! जन्म - मरणादि दु:ख रूप संसार न तेरे में है न मुझमें है, न अन्य किसी में है । क्योंकि जगत् हुआ ही नहीं, यहाँ एक शुद्ध चेतन ही ज्यों का त्यों सर्वत्र है । तब फिर जगत् के अभाव रूप होने से भाव रूप दु:ख किस प्रकार हो सकता है । क्योंकि आभव से भाव की उत्पत्ति कभी होती नहीं । जगत् अभाव रूप और दु:ख भाव रूप है ।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** - गीता २/१६

बिना हुए जगत् का दु:ख यदि हम मानेंगे तो फिर गीतोक्त भगवान् के इस वाक्य का विरोध होगा क्योंकि बिना हुए का दु:ख भ्रान्ति से ही होता है । जैसे कल्पित सर्प का रज्जु में अत्यन्ताभाव है वैसे ही ब्रह्म में कल्पित प्रपंच का पारमार्थिक सत्ता से अत्यन्ताभाव है ।

जैसे स्वप्न के पदार्थ, आकाश में नीलता और रस्सी में सर्प वस्तुत: हैं ही नहीं, तथापि मिथ्या रूप प्रतीत होते ही है और उससे सुख दु:ख भी उत्पन्न होते ही हैं । उसी प्रकार जन्म-मरण आदि जगत् वास्तविक रूप से तो है नहीं तथापि आत्मा के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण ही मिथ्या प्रतीत होते हैं और मिथ्या जगत् से उत्पन्न सुख दु:ख भी मिथ्या ही प्रतीत होते हैं ।

## प्रश्न ५३ - आधार एवं अधिष्ठान में क्या भेद है ?

**उत्तर -** समस्त भ्रान्तियों के आधार वस्तु के सामान्य स्वरूप को आधार कहते हैं । तथा उस आधार वस्तु के विशेष स्वरूप को अधिष्ठान कहते हैं ।

## प्रश्न ५४ - सामान्य और विशेष में क्या भेद है ?

**उत्तर -** सामान्य स्वरूप वस्तु का वह अंश कहलाता है जो भ्रान्ति काल एवं भ्रान्ति की निवृत्ति इन दोनों कालों में भी प्रतीत होता रहता है ।

विशेष स्वरूप वस्तु का वह अंश कहलाता है जो भ्रान्ति काल में प्रतीत नहीं होता किन्तु जिसकी प्रतीति से भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । आत्मा के भी दो रूप हैं - सामान्य रूप तथा विशेष रूप ।

**(१)** सत्‌रूप आत्मा का सामान्य रूप है ।

**(२)** असंगता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता इत्यादि आत्मा के विशेष रूप हैं ।

आत्मा का "सत्‌रूप" भ्रान्ति काल में स्थूल, सूक्ष्म समुदाय के साथ अभिन्न होकर प्रतीत होता है याने आत्मा दिखाई पड़ने के स्थान पर देह संघात रूप भान होती है । अस्तु मैं "हुँ" रूपसे (सत्‌रूप से) प्रतीत होने वाला आत्मा का सामान्य रूप है । वैसे आत्मा में सामान्य विशेष भाव भी नहीं केवल अधिक व थोड़ समय की प्रतीति भेद से कल्पित कर लिये गये हैं । इस सामान्य सत्‌रूप को ही भ्रान्ति मिथ्या जगत् का आधार कहते हैं ।

असंगता, कूटस्थता नित्यमुक्तता रूप आत्मा के विशेष अंश की जब प्रतीति होती है उस समय स्थूल सूक्ष्म संघात् की प्रतीति दूर हो जाती है ।

जो वस्तु अज्ञान से प्रतीत होती है वह वस्तु उसके ज्ञान से निवृत्त हो जाता है ।

आत्मा के अज्ञान से प्रतीत होने वाला मिथ्या जन्म - मरण रूप दु:ख आत्मा के ज्ञान से दूर हो जाता है । "जो वस्तु मिथ्या होती है वह अधिष्ठान की कुछ हानि नहीं कर सकती"

**प्रश्न ५५ - अज्ञान का नाश कर्म से होगा या उपासना से ?**

**उत्तर -** अपने स्वरूप के अज्ञान से यह जगत् रूपी दु:ख प्रतीत होता है और आत्मा के ज्ञान से दूर हो जाता है । क्योंकि जो वस्तु जिसके अज्ञान से प्रतीत होती है वह वस्तु उसीके ज्ञान से दूर हो जाती है यह नियम है । अज्ञान का विरोधी ज्ञान है न कि कर्म, उपासना ।

''मैं सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म हूँ'' इस निश्चय का नाम ज्ञान है और यही मोक्ष का साधन है दूसरा कोई नहीं । जगत् का उपादान कारण अज्ञान है । उस अज्ञान के नष्ट होते ही उसका कार्य रूप जगत् स्वंय नष्ट हो जायेगा । क्योंकि उपादान कारण के नष्ट हो जाने पर उसका कार्य नहीं रह सकता । अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म और उपासना अज्ञान के विरोधी नहीं, किन्तु सहायक हैं । भेद या द्वैत बुद्धि ही अज्ञान है और कर्म तथा उपासना द्वैत बुद्धि को दृढ़ करने वाले हैं । जैसे घर का अंधकार प्रकाश के अलावा अन्य किसी साधन से दूर नहीं होता, वैसे ही अज्ञानरूपी अंधकार ज्ञानरूपी प्रकाश से दूर होता है, दूसरे किसी साधन से नहीं ! नहीं !! कभी नहीं !!!

संसार तो तीन काल में भी नहीं हुआ । फिर मिथ्या वस्तु जगत् अपने अधिष्ठान आत्मा की हानि भी नहीं कर सकता ।

**प्रश्न ५६ - एक शुद्ध चैतन्य में जीव - ईश भेद कैसे हुआ ?**

**उत्तर -** शुद्ध सत्त्व गुण वाली माया तथा मलिन सत्त्व गुण वाली अविद्या इन दो उपाधियों के कारण ही एक शुद्ध चेतन में जीव और ईशपना कल्पित हुआ है वैसे उपाधि भेद से रहित एक ही चैतन्य है । जैसे घट तथा मठ इन दो उपाधियों से एक आकाश में घटाकाश तथा मठाकाश ऐसे दो नाम कल्पित हो गये हैं, किन्तु उपाधि से रहित एक व्यापक आकाश ही है ।

शुद्ध सत्त्वगुण वाली माया तथा मलिन सत्त्वगुण वाली अविद्या का भेद इस प्रकार है कि जहाँ सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से दबा होता है वहाँ वह मलिन सत्त्वगुण अविद्या कहलाती है जो जीव की उपाधि है । तथा ईश की उपाधि जो माया है उसमें सत्त्वगुण द्वारा रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए होते हैं । याने सत्त्वगुण अधिक होता है और अविद्या में सत्त्वगुण कम होता है ।

वैसे तो अविद्या, माया, अज्ञान, प्रकृति, प्रधान आदि एक ही अर्थ के बोधक हैं किन्तु शुद्ध सत्त्व प्रधान को माया व मलिन सत्त्व प्रधान को अविद्या कहते हैं ।

(१) माया (२) चिदाभास (३) अधिष्ठान चेतन तीनों को मिलाकर ईश्वर कहते हैं ।

(१) अविद्या (२) चिदाभास (बुद्धि में आया हुआ शुद्ध चेतन का प्रतिविम्ब) (३) अधिष्ठान (शुद्ध चेतन साक्षी) इन तीनों को मिलाकर जीव कहते हैं ।

**प्रश्न ५७ -अविद्या तथा माया के कारण जीव तथा ईश्वर में क्या भेद पड़ गया ?**

**उत्तर -** यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों में तीनों पदार्थ एक से ही है तथापि जीव तथा ईश्वर की उपाधि जो प्रकृति है उसमें मलिनता तथा शुद्धता के साधारण अन्तर से महान् भेद आ गया । जैसे एक शुद्ध जल से भरा वर्तन तथा एक अशुद्ध जल ( चावल का माँड या गन्दे पानी) से भरा वर्तन धूप में रख दे, तो इनमें सूर्य का प्रतिविम्ब समान नहीं पड़ेगा । जो शुद्ध उपाधिवान् वर्तन है उसमें सूर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ेगा अर्थात् वह स्वच्छ जल को अपने वश में कर केवल गोल चकाचौंध कर देने वाला प्रकाशमय बना लेगा । किन्तु मलिन चंचल जल वाला प्रतिबिम्ब जल के वश में हो बिम्ब के असली स्वरूप को उल्टे रूप में प्रतीत करा देगा याने सूर्य को जल जैसा मलिन सिद्ध कर देगा ।

तो जिस प्रकार एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब मलिन जल के अन्दर पड़कर उसके वश में हो जाता है और स्वच्छ तथा स्थिर जल में पड़कर उल्टा उसे वश में कर लेता है । ठीक उसी प्रकार एक ही शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मलिन प्रकृति अर्थात् अविद्या में पड़कर उस अविद्या के वश में हो जाता है । इसलिये उस जीव के चिदाभास में (१) परतंत्रता (२) अल्पज्ञता (३) अल्पशक्ति (४) बन्धन (५) अनेक (६) परिच्छिन्न

(७) जन्म-मृत्युवान् (८) कर्ता-भोक्ता इत्यादि धर्म प्रगट हो गये । और वही शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब शुद्ध सत्त्वप्रधान माया में पड़कर उसे अपने वश में कर लेने से उस चिदाभास में (१) स्वतंत्र (२) सर्वज्ञ (३) सर्वशक्तिमान (४) मुक्त (५) एक (६) अपरिच्छिन्न (७) अजन्मा (८) फलदाता इत्यादि व सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करने रूप धर्मों की उत्पत्ति होने से वह ईश्वर कहलाया है।

किन्तु इसमें यह बात ध्यान रखना है कि अल्पज्ञता कर्त्ता भोक्तापना, बन्ध मोक्ष मानना, जन्म-मृत्यु इत्यादि धर्म जीव के तीन (१) अविद्या (२) चिदाभास तथा (३) अधिष्ठान शुद्ध चेतन में से जो प्रतिबिम्ब वाला चिदाभास अंश है अर्थात् जो अविद्या अथवा बुद्धि के परिणाम रूप बुद्धि में आया हुआ चिदाभास है उसके धर्म हैं ।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, फलदाता, मुक्त, अजन्मा इत्यादि धर्म ईश्वर के तीन अंशों याने (१) माया (२) चिदाभास तथा (३) अधिष्ठान शुद्ध चेतन से जो माया में आया हुआ है वह प्रतिबिम्ब (चिदाभास) के धर्म हैं ।

किन्तु दोनों के अधिष्ठान जो कूटस्थ और शुद्ध चेतन हैं वे दोनों एक तथा सर्वधर्म से रहित हैं । अस्तु ईश्वर का आभास अंश ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करता है । जीव के कर्मानुसार पुण्य-पाप का फल सुख-दुःख प्रदान करता है तथा जीव का चिदाभास अंश ही उन कर्मों का कर्त्ता तथा उन कर्मों के फल का भोक्ता है ।

चैतन्य अंश तो एकरस है । उसमें तो सता स्फूर्ति (अमुक वस्तु है ऐसा ज्ञान) देने के अलावा अन्य कोई भी प्रकार का ऐश्वर्य नहीं होता।

**प्रश्न ५८ - तत् पद तथा त्वं पद में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का क्या भेद है ?**

**उत्तर** -(१) माया (२) आभास (३) अधिष्ठान चेतन तीनों मिलकर तत् पद याने परमात्मा का वाच्यार्थ कहलाता है । माया तथा आभास के धर्म से रहित केवल अधिष्ठान चेतन 'तत्' पद का लक्ष्य कहलाता है ।

(१) अविद्या (२) चिदाभास (३) कूटस्थ शुद्ध चेतन तीनों मिलकर त्वं पद याने जीव का वाच्यार्थ कहलाता है । अविद्या तथा चिदाभास का त्याग करने पर जो केवल कूटस्थ रहता है वह 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ है ।

जो शुद्ध चेतन स्थूल, सूक्ष्म संघात का अधिष्ठान है वह कूटस्थ साक्षी चेतन कहलाता है ।

वैसे तो जीव, कूटस्थ, ईश्वर और ब्रह्म में पारमार्थिक तो कुछ भेद नहीं है केवल अविद्या तथा माया उपाधि से ये चारों अलग-अलग प्रतीत हैं । जैसे एक ही आकाश घड़े, जल और बादल की उपाधि से घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश तथा महाकाश कहलाता है ।

**प्रश्न ५९ - जीव-ब्रह्म एक है । तब कर्म और उपासना का वेदों में वर्णन किस प्रयोजन से है ?**

**उत्तर** - वेदों में जो कर्म तथा उपासना का विधान है वह जीव के चिदाभास अंश को लक्ष्य करके ही किया है । कूटस्थ जीव साक्षी तो असंग निर्विकार ही है उसमें कुछ कर्तव्यता नहीं है । जब वेद "तत्त्वमसि" अर्थात् तू ब्रह्म है ऐसा कहता है तब उसका ऐसे कहने का अभिप्राय जीव के वाच्यार्थ तथा ईश्वर के वाच्यार्थ से अभिन्न बताने में नहीं है । क्योंकि दोनों के उपाधि भेद से दोनों के धर्म में बहुत बड़ा अन्तर है । उनकी एकता तो सम्भव नहीं हो सकती किन्तु कूटस्थ जो जीव साक्षी शुद्ध चेतन आत्मा है वही जीव का लक्ष्यार्थ है, वही जीव का वास्तविक स्वरूप है और उस कूटस्थ की तथा शुद्ध ब्रह्म का मुख्य समानाधिकरण है याने दोनों की एकता है । उनका जो भेद प्रतीत होता है वह केवल अविद्या उपाधि से ही हो रहा है ।

अस्तु ! कर्म और उपासना करने वाली बुद्धि में आया हुआ चिदाभास अंश है तथा उस कर्म का फल देने वाला भी ईश्वर का चिदाभास अंश ही है । क्योंकि जीव के अन्तःकरण में मलिनता एवं

चंचलता तमोगुण व रजोगुण की प्रधानता से है । इस कारण स्वरूप बोध होने में प्रतिबन्धक होने से उनकी निवृत्ति हेतु कर्म, उपासना का विधान किया है ।

**प्रश्न ६० - वेद में जो द्वैत का प्रतिपादन है उसका क्या तात्पर्य है ?**

**उत्तर - ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते''**

- मुण्डकोपनिषद ३/१

यह जो वेदों में एक वृक्ष पर दो पक्षी का वर्णन किया है जिसमें एक पक्षी तो कर्मों का फल सुख - दुःख भोगता है तथा दूसरा पक्षी केवल उसका साक्षी मात्र है । इस कथन में दो पक्षी - जीव तथा ब्रह्म का संकेत नहीं समझना चाहिये किन्तु कूटस्थ तथा चिदाभास समझना चाहिये । शरीर रूप वृक्ष में कूटस्थ तो असंग, अकर्ता, साक्षी मात्र है और बुद्धि पक्षी उसमें कर्म फल का भोग करता है ।

ईश्वर तो सर्वव्यापक है । वह एक वृक्ष पर रहता है ऐसा अर्थ कर लेंगे तो वह एकदेशीय हो जावेगा । फिर श्रुति में दोनों को परम मित्र अर्थात् कभी जुदा न होने वाला कहा है । सखा शब्द जीव - ब्रह्म के बिच नहीं हो सकता क्योंकि ये दो नहीं एक ही है तथा पक्षी का अर्थ उड़ने से है आने जाने से है । मन तथा जीवात्मा ही आता जाता है । ब्रह्मात्मा तो अचल, व्यापक, अद्वैत, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, देश, काल, वस्तु परिच्छेद से रहित, पूर्ण है । अतः भेदवादी मुर्खों के द्वारा इस मंत्र का अर्थ द्वैत में घटाने से जिज्ञासुओं को भ्रमित नहीं होना चाहिये, क्योंकि उपरोक्त मंत्र जीव ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं अपितु जीव तथा मन का है । नाना कामना व कर्म सहित बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है ।

**प्रश्न ६१ - ''तत्त्वमसि'' महावाक्य का अनुभव किस प्रकार करना चाहिये ?**

**उत्तर -** ''तत्त्वमसि'' का अर्थ ''तू वह है'' होता है किन्तु इसका अनुभव ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस रूप से होता है । इसमें ''मैं'' शब्द का अर्थ शुद्ध

चेतन जीव साक्षी आत्मा (कूटस्थ) जानना चाहिये तथा ब्रह्म शब्द का अर्थ महाकाश की तरह व्यापक ब्रह्म जानना चाहिये । मैं शब्द ब्रह्म शब्द के वाच्यार्थ में भले भेद प्रतीत हो किन्तु लक्ष्यार्थ में तो अभेद ही है । (''मैं '' तथा ''अहं'' एक ही है )

इस वास्ते हे आत्मन् ! जब तक तू अपने को ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा निश्चय नहीं करेगा तब तक तू अपने को दीन, हीन,अकिंचन, दुःखी मानता हुआ परमात्मा को अपने से अलग मानता रहेगा वहाँ तक भय को प्राप्त होता रहेगा । भेद ही भय का हेतु है । इसलिये ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा गुरु उपदेश से तू अपने वास्तविक ब्रह्म स्वरूप का निश्चय कर ।

**प्रश्न ६२ - ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा बोध किसे होता है ?**

**उत्तर -** ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा बोध अविद्या में प्रतिबिम्ब है, जिसे चिदाभास जीव कहते हैं । ऐसा बोध उस चिदाभास को ही होता है और उस चिदाभास की सात अवस्थाएँ निम्न प्रकार से हैं ।

(१) अज्ञान (२) आवरण (३) भ्रान्ति (४) परोक्ष ज्ञान (५) अपरोक्ष ज्ञान (६) शोकनाश तथा (७) हर्ष ।

**अज्ञान : -** ''मैं ब्रह्म को नहीं जानता'' ऐसा कहने का कारण अज्ञान कहलाता है ।

**आवरण :-** ''ब्रह्म है नहीं'' इसका हेतु अज्ञान की असत्वापादक शक्ति । अर्थात् ''ब्रह्म का भान नहीं होता'' इस प्रकार कथन का हेतु अज्ञान का अभानापादक शक्ति, इसको आवरण कहते हैं ।

**भ्रान्ति :-** जन्म-मरण, परलोक गमन तथा इस लोक में आगमन, पुण्य-पाप, सुख-दुःख इत्यादि संसार का अपने आत्मस्वरूप याने कूटस्थ में प्रतीत होने को भ्रान्ति कहते हैं ।

**परोक्ष ज्ञान :** - जिज्ञासु के मन में ब्रह्म के प्रति 'ब्रह्म नहीं है' इस आवरण का सद्गुरु द्वारा ''ब्रह्म है'' ऐसे अवान्तर वाक्य श्रवण से

इस परोक्ष ज्ञान से ''ब्रह्म है'' यह आवरण नाश होता है । ''ब्रह्म है'' इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं । यह परोक्ष ज्ञान (ब्रह्म है) अज्ञान की असत्वापादक शक्ति (ब्रह्म नहीं है) को नष्ट कर देता है ।

**अपरोक्ष ज्ञान :-** तत्त्वमसि, इस महावाक्य द्वारा जीव अपने को ''मैं ब्रह्म हूँ'' जानता है । इस प्रकार के ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान से ''मुझको ब्रह्म का भान नहीं हो रहा है'' यह अज्ञान की अभानापादक शक्ति को नष्ट कर देता है, साथ ही अज्ञान एवं उसके समूह का नाश कर देता है ।

**शोक नाश :-** स्थूल, सूक्ष्म संघात के समस्त धर्म से रहित जो कूटस्थ है वह मैं हूँ इसको भ्रान्ति नाश या शोक नाश कहते हैं । इससे मुझमें जन्म - मरण और सुख - दुख, पुण्य - पाप, बन्ध - मोक्ष, गमनागमन, भूख- प्यास कोई भी संसारी धर्म नहीं है, ऐसा शुद्ध बोध होता है । इसीको शोकनाश कहते हैं ।

**हर्ष : –** जब जिज्ञासु को अपने आत्म स्वरूप का संशय रहित ज्ञान होगया कि ''मैं अद्वय ब्रह्मरूप हूँ'' तब उसे महान् आनन्द होता है। उसे ही अति हर्ष कहते हैं ।

उपरोक्त सातों अवस्था चिदाभास की याने चैतन्य के आभास सहित बुद्धि की ही है और इससे ही यह बोध होता है कि मैं ब्रह्म हूँ क्योंकि इसे ही जीवपने तथा बन्धन की भ्रान्ति थी ।

**प्रश्न ६३ - चिदाभास ब्रह्म से भिन्न मिथ्या होने से उसका ज्ञान ब्रह्मरूप से सत्य कैसे होगा ?**

**उत्तर –** मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान चिदाभास को ही होता है, कूटस्थ को नहीं होता । तथापि वह आभास अपने मिथ्या स्वरूप प्रतिबिम्ब को असत्य कर याने बाध का अपने बिम्बस्वरूप कूटस्थ को ही लक्ष्य करके ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा अभिमान या अनुभव करता है और उस कूटस्थ तथा ब्रह्म का तो सदा अभेद ही है । जैसे दर्पण में आया हुआ विशेष प्रकाश

यदि कहे कि "मैं सूर्य हूँ" तब यह समझना चाहिये कि वह दर्पण में आया हुआ प्रतिबिम्ब रूप विशेष प्रकाश अपने विशेष स्वरूप का बाध करके (उस विशेष चमक को मिथ्या समझकर) और अपने असली स्वरूप (बिम्बसूर्य) को लक्ष्य करके ही कहता है मैं सूर्य हूँ । ऐसा जो जानते हैं, वे ही मुक्त हैं बाकी सब बद्ध हैं ।

अथवा सिनेमा गृह में सम्मुख पर्दे के चित्र कहे कि मैं शुद्ध प्रकाश हूँ तब उसका कहना यह है कि वह पर्दे पर आया हुआ नाना आकार, रंग, चित्र, प्रतिबिम्ब रूप विशेष स्वरूप का बाध करके (उस चित्र जगत् को मिथ्या समझकर) और अपने असली स्वरूप (बिम्ब शुद्ध प्रकाश) को लक्ष्य करके ही कहता है कि मैं शुद्ध प्रकाश हूँ ।

अथवा दर्पण में जब कोई पुरुष अपने मुख को या जल के किनारे खड़े अपने उल्टे प्रतिबिम्ब को देखता है तब भी वह दर्पण एवं जल से अपने को भिन्न ही मानता है । प्रतिबिम्ब को तो मिथ्या ही समझता है और अपने मोटेपन तथा सुन्दर पन का अभिमान दर्पण में न कर अपने में ही याने बिम्ब में ही करता है ।

जहाँ प्रतिबिम्ब को मिथ्या करके व बिम्ब को सत्य समझकर उसके साथ जो एकता होती है उसे बाध समानाधिकरण कहते हैं । जैसे मुख के प्रतिबिम्ब का बाध करके बिम्ब मुख के साथ अभेद होता है । प्रतिबिम्ब बिम्ब मुख ही है, वह पृथक् नहीं होता है । इसी प्रकार का अभेद बाध समानाधिकरण कहलाता है। इसी प्रकार आभाास का बाध करके ब्रह्म के साथ मैं शब्द का अभेद है । 'मैं' शब्द में जो आभास का भान होता है तो वह आभास स्वयं कूटस्थ का अभिमान धारण करता है । याने स्वयं को कूटस्थ के साथ तादात्म्य अभिमान वाला जानता है याने प्रतिबिम्ब आभास अपने को बिम्ब ब्रह्म से अलग नहीं मानकर अभिन्न जानता है। और उस कूटस्थ का व्यापक चैतन्य के साथ सदा अभेद है, इसलिये आभास भी अपने मिथ्या स्वरूप के बाध के समय अपने को भी ब्रह्म स्वरूप देखता है। इसलिये "मैं" शब्द में जिस आभास का भान हो रहा है वह ब्रह्म है

भिन्न नहीं । इस प्रकार चिदाभास का 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान यथार्थ है, भ्रान्ति नहीं। कूटस्थ का ब्रह्म के साथ मुख्य अभेद है ही, इसीको मुख्य समानाधिकरण कहते हैं ।

''जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ बिना बाध किये सदा अभेद होता है उस वस्तु का उस वस्तु के साथ मुख्य समानाधिकरण होता है'' इसलिये ''मैं'' शब्द में भान होने वाले कूटस्थ का ब्रह्म के साथ सदा अभेद है और मैं शब्द से भान होने वाले आभास का अपने स्वरूप को बाध करके ब्रह्म के साथ अभेद होता है ।

मैं शब्द का तीन प्रकार से प्रयोग होता है-(१)देह के साथ तादात्म्य करके (२) बुद्धि के साथ तादात्म्य करके तथा (३) कूटस्थ के लिये ।

(१) जब ज्ञानी कहता है मैं जाता हूँ तब वह अपने स्थूल देह के प्रति ही कथन करता है ।

(२) जब मैं अकर्ता- अभोक्ता हूँ ऐसा कहता है तब वह अपने कूटस्थ स्वरूप को लक्ष्य करके कहता है ।

ज्ञानी अपने स्वरूप के प्रति कभी भ्रान्त नहीं होता । इसलिये ज्ञानी जब 'अहं ब्रह्मास्मि'' याने ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा कहता है तो उस समय मैं शब्द का उच्चारण करते ही उसे कूटस्थ और आभास इन दोनों का भान हो जाता है और इन दोनों की ही वह ब्रह्म के साथ एकता करता है । परन्तु ''अहम्'' शब्द के अर्थ कूटस्थ की ब्रह्म के साथ जो एकता है वह मुख्य एकता है क्योंकि सीधी एकता है । और अहं शब्द के अर्थ चिदाभास की जो एकता ब्रह्म से है उसमें आभास का बाध करके होने से बाध एकता कहलाती है ।

**प्रश्न ६४ - वृत्तिव्याप्ति तथा फलव्याप्ति किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :-** किसी भी वस्तु के ज्ञान में प्रथम अन्तःकरण की वृत्ति निकलकर वस्तु के समीप जाती है और उसेक ऊपर आच्छादित आवरण को भंग करती है । इस अवस्था को वृत्ति व्याप्ति कहते हैं तथा उस वृत्ति में

आरूढ़ चेतन का आभास उस जड़ वस्तु को जनवाता है तब विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे ही फलव्याप्ति कहते हैं ।

समस्त जड़ पदार्थों के ज्ञान में केवल अन्तःकरण की वृत्ति से बोध नहीं होता जब तक कि चिदाभास उसे प्रकाशित न करे । क्योंकि वस्तु तो जड़ है ही और अकेली वृत्ति भी जड़ है । जड़ - जड़ को कभी जान नहीं सकता । इसलिये जड़ पदार्थों के ज्ञान में फलव्याप्ति याने चिदाभास की अपेक्षा रहती है ।

**प्रश्न६५ - आत्मस्वरूप साक्षी के बोध हेतु फलव्याति की अपेक्षा क्यों नहीं होती है ?**

**उत्तर :-** अन्तःकरण सहित चिदाभास का बोध तो साक्षी द्वारा होता है किन्तु साक्षी स्वयं प्रकाश है, इसलिये उसका भान तो अपने आप बिना फलव्याप्ति के याने बिना चिदाभास की सहायता के होता है। अन्तःकरण की वृत्ति तो केवल आवरण भंग करती है जो स्वरूप को ढ़के हुए था। आवरण भंग होते ही साक्षी स्वयंप्रकाश अपने आप भास जाता है ।

जैसे अन्धकार में सन्दुक में बन्द मणि या रेडियमडायल वाली घड़ी का सन्दुक के ढ़क्कन खोलने के बाद बिना किसी दीपक प्रकाश आदि की सहायता के अपने आप ही भासित होने लग जाता है । क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ स्वयं प्रकाशवान् हैं ।

इसी प्रकार अज्ञान से ढ़के हुए अपने असली स्वरूप साक्षी का 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहम्' 'सोऽहम्' इस वृत्ति द्वारा अज्ञान ढ़कने को हटाते ही बिना चिदाभास अर्थात् बिना किसी अन्य वृत्ति के अपने आप ही प्रकाश हो जाता है । क्योंकि साक्षी स्वयंप्रकाश है । जड़ वस्तु के ज्ञान में तो बिना चिदाभास के प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता, किन्तु साक्षी के बोध में चिदाभास फलव्यप्ति की आवश्यकता नहीं होती। जैसे दर्पण में आया हुआ सूर्य का आभास सूर्य को प्रकाशित नहीं करता, उसी प्रकार वृत्ति में आया हुआ आभास साक्षी आत्मा को प्रकाशित नहीं करता है।

## प्रश्न ६६ - गुरु द्वारा महावाक्य उपदेश ग्रहण करने से अधिकारी जिज्ञासु को क्या फल की प्राप्ति होती है ?

**उत्तर -** श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु जब अधिकारी पुरुष को ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्यों का उपदेश करे तब अधिकारी को भागत्याग, लक्षणा द्वारा ईश्वरता में से माया भाग तथा जीव अंश के अविद्या अन्तःकरण आदि विरोधी भाग के त्यागपूर्वक जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा व ईश्वर साक्षी परमात्मा का अभेद निश्चय हो अहं ब्रह्म का ज्ञान होता है। अर्थात् ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''ब्रह्मैवाहस्मि'', ''तत्त्वमसि'', ''त्वमृतदसि'' इस प्रकार का परस्पर अभेद रूप अपरोक्ष ज्ञान होता है। अहं ब्रह्मास्मि यह वृत्ति अहं रूप प्रत्यक् आत्मा में ब्रह्म के अभेद को विषय करती है। तथा ब्रह्मैवाहमस्मि यह वृत्ति ब्रह्म में प्रत्यक् आत्मा के अभेद को ग्रहण करती है।

त्वं तदसि यह वृत्ति त्वं रूप प्रत्यक् आत्मा का तत्रूप परमात्मा में अभेद ग्रहण करती है तथा तत्त्वमसि यह वृति ब्रह्म में प्रत्यक् आत्मा का अभेद बतलाती है, फिर अहंरूप प्रत्यक् आत्मा में सबको अपरोक्षपना तथा चेतनपना अनुभव सिद्ध ही है ।

बहुत से ब्रह्म को परोक्षरूप तथा अनात्मरूप से मानते हैं। जब प्रत्यक् आत्मा में ब्रह्म का अभेद बोध याने ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब इस ज्ञान से ब्रह्म के परोक्षपने तथा अनात्मपने की निवृत्ति हो जाती है ।

और कोई जीव को परिच्छिन्न तथा अब्रह्म रूप मानते हैं। जब बह्म में जीवात्मा के अभेद को सिद्ध करने वाली ''अहं ब्रह्मास्मि'' यह अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है तब उस ज्ञान होने से जीवात्मापना तथा अब्रह्म रूपतापने की निवृत्ति हो जाती है ।

इस वास्ते अधिकारी पुरुष को ब्रह्म में परोक्षत्व तथा अनात्मत्व की शंका की निवृत्ति करने वास्ते अपने आत्मा में परिच्छिन्नतापने की तथा अब्रह्मत्वता की शंका की निवृत्ति करने के लिये महावाक्यों का

ओत - प्रोत भाव से याने ''अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्माहमस्मि, तत्त्वमसि, त्तम्तदसि'' इस प्रकार से आत्मा तथा परमात्मा का परस्पर अभेद रूप से निश्चय करना चाहिये । महावाक्य जन्य वृत्ति से अज्ञानरूप अनर्थ की निवृत्ति कार्य प्रपंच सहित हो जाती है तथा प्रत्यक् आत्मा में अखंडाकार ब्रह्मानन्द रूप स्थिति होती है । श्रुति में कहा है कि -

**तरति शोकम् आत्मवित्, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।**

इस आत्मा का साक्षात्कार वाला पुरुष सर्व अनर्थरूप शोक का नाश करता है तथा ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप में ब्रह्म को अपने आत्मरूप से जानने वाला विद्वान् पुरुष ब्रह्मरूप होता है । इस प्रकार महावाक्य जन्य उपदेश से ब्रह्म वेत्ता पुरुष को ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा अज्ञान की निवृत्ति तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रूप फल होता है ।

**प्रश्न ६७ - ब्रह्म मन, वाणी से अगोचर क्यों कहा जाता है ?**

**उत्तर -** मन, वाणी, अपने लौकिक जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध हेतु ही खुल पाते हैं । ब्रह्म में जाति, गुण, सम्बन्ध क्रिया न होने से मन, वाणी उसे नहीं जान पाते हैं ।

ज्ञान करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है - श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राण । इनका अपना - अपना विषय है शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध । अपने विषय को छोड़ अन्य किसी प्रकार का ज्ञान इनसे सम्भव नहीं है । अस्तु, ब्रह्म इन पाँचों इन्द्रियों का विषय नहीं है तथा ब्रह्म कर्मेन्द्रियों का विषय भी नहीं क्योंकि कर्मेन्द्रिय में ज्ञान नहीं होता । ज्ञानेन्द्रिय में श्रोत्र शब्द को सुन सकता है किन्तु ब्रह्म शब्द नहीं है । इसलिये ब्रह्म श्रोत्र इन्द्रिय का विषय नहीं, किन्तु उसका प्रकाश है कि ऐसा शब्द हो रहा है ।

त्वचा इन्द्रिय अपने स्पर्श विषय को ही जान पाती है । ब्रह्म स्पर्श का आश्रय नहीं बल्कि त्वचा इन्द्रिय का प्रकाशक है कि ऐसा गर्म, ठन्डा, सख्त, मुलायम, गुदगुदा लगा इसलिये त्वचा इन्द्रिय से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता ।

नेत्र भी अपना विषय रूप को ही ग्रहण कर सकते हैं किन्तु ब्रह्म तो अरूपी है इसलिये वह नेत्र का विषय नहीं बल्कि नेत्र का प्रकाशक है कि यह अमुक वस्तु या व्यक्ति है ।

इसी प्रकार ब्रह्म रसना इन्द्रिय का विषय रस नहीं है बल्कि रस विषय का प्रकाशक है ।

और वह ब्रह्म घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध भी नहीं बल्कि गंध का प्रकाशक है कि यह अमुक गंध है ।

**प्रश्न ६८ - ब्रह्म नेत्र का विषय नहीं तो फिर राम, कृष्णादिक तो नेत्र द्वारा सभी ने देखे थे ऐसा क्यों ?**

**उत्तर - यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

केन. उप. १ / ६

राम, कृष्णादिक की जो मनुष्याकार मूर्ति सबको प्रत्यक्ष दिखनेवाली है वह ब्रह्म नहीं है । वह तो माया द्वारा उत्पन्न शरीर होने से सबको उस काल में एक साधारण मनुष्य के समान ही प्रतीत होते थे। उसके लिये श्रद्धा, भक्ति, प्रेम आदि साधन की अपेक्षा नहीं थी । गीता अध्याय ४ के श्लोक ६ कहा है -

**''अजोऽपि'' ''सम्भावाम्य आत्ममायया''**

अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ । मेरा वास्तविक स्वरूप तो अजन्मा, अरूपी, अनामी विभु ही है किन्तु वह रूप

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।**
**मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥**

- गीता ७ / २५

नाम, रूपमय माया से छिपा हुआ अस्ति, भाँति, प्रिय स्वरूप मैं सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ इसलिये तत्त्वज्ञान से रहित ज्ञान चक्षु के

अभाव में अज्ञानी अन्धे मनुष्य मुझ जन्मरहित अविनाशी आत्मा को सब देह में होते हुए भी नहीं जानते बल्कि इसका अपमान कर बाहर पत्थरों में सर झुकाकर मेरा तिरस्कार करने के परिणामस्वरूप कष्ट ही पाते रहते हैं ।

अतः माया मूर्ति के दर्शन ब्रह्म के दर्शन नहीं है। रामायण, भागवत पुराणादि में जो राम कृष्णादिक को ब्रह्म रूप कहा है वह उनके नाम, रूप देह, इन्द्रिय वाले शरीर को लेकर नहीं बल्कि उनके शरीर के अधिष्ठान चेतन ब्रह्म को लेकर कहा है । और इस प्रकार सभी प्राणी का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म होने से अभिन्न ही है । शरीर का बाध किये बिना अन्य शरीरों की तरह क्रियावान्, रूपवान्, हाथ - पैर अवयव वाला साकार शरीर, निराकार अवयवरहित, रूपरहित तथा क्रियारहित ब्रह्म के साथ एकता नहीं हो सकती । इसलिये राम कृष्णादिक के शरीर ब्रह्म रूप नहीं है किन्तु अन्य शरीरों की तरह पाँच भौतिक गर्भजन्य ही थे ।

**प्रश्न ६९ - इन्द्रिय बिना किसी का साक्षात्कार कैसे सम्भव हो सकता है ?**

**उत्तर -** इन्द्रिय बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता ऐसा कोई नियम नहीं है । बिना इन्द्रिय के भी ज्ञान होता है क्योंकि सुख - दुख का अनुभव तो सबको है, वह किसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात नहीं होता फिर भी सुख - दुःख का ज्ञान सबको प्रत्यक्ष है । अतः विषय के साथ वृत्ति का सम्बन्ध होकर जब वृत्ति और विषय का अभेद होता है याने विषय चेतन और वृत्ति चेतन दो उपाधि का एकत्व हो जाता है वही प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है।

(१) इसमें कोई जगह तो इन्द्रिय द्वारा होता है ।

(२) कोई जगह शब्द द्वारा होता है ।

(३) कोई जगह इन्द्रिय एवं बाहर के निमित्त बिना शरीर के अन्दर उत्पन्न वृत्ति से भी होता है और इन सभी को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

चेतना स्वरूप से किसी जगह भेद नहीं है । सामान्य चेतन सर्वत्र समान है किन्तु विषय वृत्ति तथा रूप उपाधि के किये भेद होते है। याने जब ये दोनों उपाधि अलग-अलग स्थल में होती है तब ही उपाधिवाले चेतन का भेद कहलाता है ।

जब अन्तःकरण से वृत्ति निकलकर विषय तक जाकर विषय के आकार की बनती है तब दोनों उपाधि के एकत्व हो जाने से चेतन का भेद भी टूट जाता है और इसीको प्रत्यक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान या साक्षातकार भी कहते हैं ।

(१) इन्द्रिय जन्य ज्ञान ब्रह्म घटादिक के प्रत्यक्ष ज्ञान में अनुगत है।

(२) महावाक्य ज्ञान (शब्द जन्य) ब्रह्म ज्ञान में अनुगत हैं ।

(३) बाहर के निमित्त बिना अन्दर उत्पन्न हुई सुखाकार- दुःखाकार वृत्ति ज्ञान प्रत्यक्ष ब्रह्म ज्ञान में अनुगत है ।

(४) माया की वृत्ति रूप ज्ञान ईश्वर के ज्ञान में अनुगत है ।

(५) अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान रज्जु - सर्पादि के ज्ञान में अनुगत है।

(१) विषय का वृत्ति के साथ सम्बन्ध किसी जगह इन्द्रिय द्वारा होता है।

(२) कोई जगह शब्द द्वारा होता है । जैसे ''दसवां तू'' इस शब्द में दसवां जो स्वयं उसके साथ अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध होकर ''दसवां मैं हूँ'' इस प्रकार वृत्ति होती है । इस प्रकार ''दसवां तू'' शब्द जन्य ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्ष होता है ।

जो कि अन्तःकरण के धर्म सुख - दुःख साक्षी भास्य है, आत्मा से ही प्रकाशित होने पर भी अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा ही प्रकाश करता है।

सीप में चांदी, रजत जहां दिखाई पड़ती है वहां भी साक्षी ही अविद्या की वृत्ति के द्वारा प्रकाश करता है ।

सुख - दुःख को विषय करने वाली वृत्ति में बाहर के इन्द्रियादिक प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती । अन्तःकरण की वृत्ति में आरुढ़ चेतन साक्षी ही प्रकाशित करता है । इसलिये सुख-दुःख साक्षी भास्य कहलाता है । इस प्रकार इन्द्रिय बिना भी विषय प्रत्यक्ष होता है ।

**प्रश्न ७० - क्या ब्रह्म ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ?**

**उत्तर -** जब अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृति होती है तब वह बाहर न जाकर शरीर के अन्दर ही रहती है । उस वृत्ति के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध है। इसलिये ब्रह्म का ज्ञान सुख दु:ख के ज्ञान की तरह प्रत्यक्ष ही होता है ।

(१) जैसे नेत्र में सूर्य अभेदरूप से सदा स्थित ही है किन्तु जब नेत्र पलक द्वारा या हाथ की अगुंली द्वारा ढका होता है तब समस्त देश में फेले हुए प्रकाश को भी नहीं देख सकते ।

(२) उस आवरण को दूर करने के बाद नेत्र में रही अन्त :-करण की वृत्ति का सूर्य के प्रकाश के साथ सम्बन्ध होते ही सर्वत्र फैले हुए सूर्य के प्रकाश का दर्शन होता है ।
उसी प्रकार -

(१) साक्षी आत्मा के साथ ब्रह्म का अभेद है । वह साक्षी आत्मा अन्तःकरण में रहे अज्ञान 'अंश रूप आवरण द्वारा ढका हुआ होने से सवर्त्र परिपूर्ण ब्रह्म प्रत्यक्ष भासित नहीं होता ।

(२) किन्तु जब महावाक्य जन्य शरीर के अन्दर ही उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति याने आत्मा व ब्रह्म की अभेदरूप आकार वाली वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होता है और जैसे घर के अन्दर आकाश का असंगपने के ज्ञान से महाकाश की असंगता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का स्वप्रकाशता रूप से भान होता है ।

किन्तु इसमें यह बात समझने की है कि जैसे अन्तःकरण की सुखाकार दु:खाकार वृत्ति साक्षी द्वारा प्रकाशित होती है उसी प्रकार

ब्रह्माकार वृत्ति साक्षी भास्य नहीं है । क्योंकि इसमें तो बाहर के गुरु उपदेश की अपेक्षा रहती है और सुख -दुःख तो बाहर के साधन की अपेक्षा बिना ही साक्षी द्वारा प्रकाशित होते हैं ।

अस्तु ! जैसे ब्रह्म साक्षी भास्य नहीं उसी प्रकार ब्रह्म चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रमाता का भी विषय नहीं । जैसे दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक की जरूरत नहीं होती है बल्कि एक नेत्र ही दीपक को विषय कर सकता है, देख सकता है उसी प्रकार ''अहं ब्रह्म'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार के आकार वाली केवल वृत्ति ही ब्रह्म को विषय करती है, मतलव कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसी -मन की वृत्ति (चाहे इसको धारणा, निश्चय कहो या कल्पना) होना यही ब्रह्म का साक्षात्कार है ।

क्योंकि जैसे सुख - दुःख, चिन्ता आदि का आकार मन धारणा करता है तब सुख दुःखादि का साक्षात्कार होता है । वैसे ही नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सत्यरूप, ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार मन, ब्रह्म के चिन्तन मात्र से ब्रह्माकार हो जाता है वही ब्रह्म का साक्षात्कार है । इस वास्ते ब्रह्म साक्षी भास्य भी नहीं और प्रमाता भास्य (चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्तिरूप) भी नहीं किन्तु अपने प्रकाश में अन्य प्रकाश की अपेक्षा से रहित सर्व का प्रकाशक ऐसा स्वयं प्रकाश ब्रह्म है ।

वृत्ति भी वस्त्र के मैल को साबुन की तरह ब्रह्म का आवरण भंग करती है और इसीको ही ''वृत्ति ब्रह्म को विषय करती है'' ऐसा कहते हैं । अन्य कोई प्रकार से वृत्ति ब्रह्म को विषय नहीं करती ।

हाँ ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार की वृत्ति रूप तत्त्वज्ञान को बाह्य साधन की अपेक्षा बिना साक्षी प्रकाशित करता है । इसलिये तत्त्वज्ञान साक्षी भास्य है ।

इस प्रकार जहाँ विषय के साथ वृत्ति का सम्बन्ध होता है वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस वृत्ति का ब्रह्म विषय के

साथ सम्बन्ध है । इसके अलावा अन्य कोई प्रकार वृत्ति ब्रह्म को विषय नहीं कर सकती। इस वास्ते ब्रह्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष सम्भव है ।

जहाँ वृत्ति का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता, विषय बाहर दूर हो अथवा आगे होने वाला हो या हो चुका हो और शब्द द्वारा विषयाकार अनुमान वृत्ति अन्तर में होती है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं ।

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्ति में आवरण रहित जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान, ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्म दर्शन कहलाता है ।

**प्रश्न ७१ - जीव तथा ब्रह्म में भेद रखने में क्या दोष है ?**

**उत्तर -** हे आत्मन् ! भेद की प्रतीति महा दु:ख देने वाली है । ऐसा कठोपनिषद में यमराज ने नचिकेता को कहा है । इस वास्ते भेदवाद अप्रमाण है और इतना ही बुद्धि में विश्वास हो जावे तो फिर उस मिथ्या भेदवाद के खंडन करने वाली युक्तियों को समझने के फेर में पड़कर समय क्यों नष्ट किया जाय ? बल्कि भेदवाद का मन से त्यागकर और एक अद्वैत सिद्धान्त में ही प्रीति करना कर्त्तव्य है । फिर आदि कवि सर्वज्ञ वाल्मिकि ऋषि ने उत्तर रामायण याने योग वशिष्ठ नामके ग्रन्थ में अजातवाद याने जगत् कुछ हुआ ही नहीं, इस प्रकार अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है इसीको दृष्टी सृष्टिवाद भी कहते हैं । दृष्टि याने अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान से सृष्टि की सत्ता अलग नहीं । जैसे साक्षी दृष्टि ही स्वप्नात्मक सृष्टि रूप से भासती है अतएव दृष्टि ही सृष्टि है ।

(१) **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**

(२) **द्वितीया द्वै भयं भवति ।** वृह. उप ४।४।१

(३) **अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा।**
**पशुरेवं स देवानाम् ॥** वृहं उपं १।४।१०

अर्थात् - (१) जो मनुष्य इस लोक में अनेक (आत्माओं पदार्थों का भेद) देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहता है याने जन्म - मरण को प्राप्त होता रहता है ।

(२) जिसकी बुद्धि में ब्रह्म के सिवाय (आत्मा सिवाय) अन्य पदार्थ सत्तारूप से है ऐसा जिसको मालूम होता है उसको उस अन्य सत्ता से सदा भय बना रहेगा ।

(३) वह अन्य है और मैं अन्य हूँ ऐसा जो जानता है याने मैं जो जानता हूँ वह भिन्न है और जिसको मैं जानता हूँ वह मुझसे भिन्न है वह कुछ जानता ही नहीं । वह देवों का पशु है ।

जिनकी बुद्धि में दूसरा तत्त्व है उसे भय होता है ऐसा वेद कहता है और फिर मेरा ज्ञेय (जानने योग्य) ध्येय (प्राप्त करने योग्य) वस्तु मेरे से भिन्न है ऐसा कहने वाले महान पशु हैं । ऐसा वेद कहता है किन्तु बेहरे लोग सुन नहीं पाते ।

अस्तु ! हे आत्मन्! यदि तुमने माध्वादिक द्वैतवादियों का वचन सुना है तो उसको भूल जाना । वह महान दु:ख का मूल है तथा जब तक हृदय में द्वैत वचन का प्रभाव रहेगा वहाँ तक तेरे हृदय में अद्वैत का साक्षात्कार नहीं होगा । और अद्वैत के साक्षात्कार हुए बिना जन्म मरण के दु:ख से भी नहीं छूट सकेगा ।

अतः भेदवादियों की बात नहीं सुनना चाहिये और न उनका संग ही करना चाहिये । यदि उनका वचन सुनने में आ भी जाय तो उसे तुरन्त भूल जाना चाहिये तथा म्लेच्छ की तरह उनके वचनों को जान वहाँ से दूर हो जाना चाहिये । भेद की बातें अत्यन्त झूठी हैं तथा उनके कहने वाले भी झूठे, शठ तथा पुरुषार्थ के सुख से रहित हैं ।

जैसे कि राजा को भर्छू मंत्री का साक्षात्कार होने पर भी अन्य मंत्रियों की बात पर विश्वास करने से कि ''भर्छू तो मर गया, भूत बन गया, वह जंगल में जिसे मिल जाता है उसे खा जाता है ।'' इन झूठ वचनों पर विश्वास कर लेने से वह अपने बफादार मंत्री से दूर भाग गया । आँख से जीवित देखने पर भी विश्वास नहीं किया । इसी प्रकार धूर्त मनुष्यों की बात सुनकर जो द्वैत में विश्वास करेगा उस अज्ञानी मनुष्य

को अद्वैत ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव कोई करावे तो भी उसके हृदय में वह ज्ञान ठहर नहीं पाता ।

**प्रश्न ७२ - मिथ्या वेद गुरु से संसार की निवृत्ति कैसे हो सकती ?**

**उत्तर -** मिथ्या संसार की निवृत्ति मिथ्या वेद गुरु से ही हो सकती है । यदि वेद गुरु सत्य हो तो ये मिथ्या संसार के मिथ्या दु:ख को मिटा नहीं सकते । मिथ्या वस्तु के नाश में सत्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती । यदि संसार, बंधन दु:ख आदि सत्य होते तो फिर मिथ्या वेद गुरु से निवृत्त नहीं हो सकते थे । क्योंकि जिन पदार्थों की आपस में समान (एक) सत्ता होती है वे ही आपस में साधक व बाधक बना करते है। विषम सत्ता साधक बाधक नहीं हो सकती ।

जैसे सपने का शेर सपने की बन्दूक से ही मर सकता है क्योंकि वे समसत्ता वाले हैं याने दोनों प्रतिभासिक सत्ता वाले हैं । उस शेर को जाग्रत याने व्यवहारिक सत्ता वाली बन्दूक से नहीं मार सकते ।

अथवा मिट्टी और घड़े की व लकड़ी और अग्नि की समसत्ता है। ये आपस में साधक बाधक होते हैं । मिट्टी घड़े में साधक (कारण) और अग्नि लकड़ी के लिये बाधक (नाशक)

जैसे जाग्रत की प्यास स्वप्न के जल से या मरूमरीचिका नीर से दूर नहीं हो सकती क्योंकि प्यास व्यावहारिक सत्ता वाली है तथा जल प्रातिभासिक है याने समसता वाले पदार्थ नहीं है ।

चेतन आत्मा पारमार्थिक सत्ता वाला है । इस वास्ते मिथ्या संसार की निवृत्ति मिथ्या वेद गुरु से ही हो सकती है, सत्य वेद गुरु न हैं, न हो ही सकते हैं ।

**प्रश्न ७३ - सत्ता कितने प्रकार की होती है ?**

**उत्तर -** वैसे तो पारमार्थिक सत्ता ही एक सत्य है किन्तु प्रपंच की प्रतीति के कारण तीन सत्ता मानी गई है -

**(१) व्यावहारिक सत्ता (२) प्रातिभासिक सत्ता (३) प्रारमार्थिक सत्ता ।**

**(१) व्यावहारिक सत्ता :-** जिस पदार्थ का ब्रह्म ज्ञान के बिना बाध नहीं होता बल्कि ब्रह्मज्ञान से ही बाध होता है उस पदार्थ की व्यावहारिक सत्ता है ऐसा कहा जाता है। ऐसी व्यवहारिक सत्ता ईश्वर की सृष्टि में है । क्योंकि देह, इन्द्रियादि जो संसार है वह ईश्वरीय सृष्टि है। उसका ब्रह्म ज्ञान बिना बाध नहीं होता । यद्यपि ईश्वरीय सृष्टि का कालान्तर में बिना ब्रह्मज्ञान के भी नाश तो होता ही है किन्तु बाध ब्रह्मज्ञान बिना नहीं होता। ''अपरोक्ष होते हुए भी उसका मिथ्यात्व निश्चय करने का नाम बाध ।'' यह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मिथ्या निश्चय ईश्वर की सृष्टि के पदार्थों में ब्रह्म ज्ञान होने के पूर्व किसी को नहीं होता। ब्रह्मज्ञान होने के बाद ही होता है। इस वास्ते मूल अविद्या का कार्य जो जाग्रत के पदार्थ ईश्वर सृष्टि में व्यावहारिक सत्ता है। जन्म - मरण, बन्ध - मोक्ष आदि व्यवहार को सिद्ध करने वाली सत्ता याने प्रत्यक्ष होने से व्यावहारिक सत्ता कहलाती है।

**(२) प्रतिभासिक सत्ता :-** ब्रह्म ज्ञान बिना जिसका बाध हो सके उसे प्रतिभासिक सत्ता कहते हैं । प्रतिभासिक याने प्रतीति मात्र केवल दूर से देखने में आती हो । जैसे सीप में रूपा, रज्जु में सर्प, आकाश में गन्धर्व नगर और इन्द्र धनुष, मरूस्थल में जल इन सबका ब्रह्मज्ञान बिना भी बाध हो जाता है । यह प्रतीति कराना अविद्या की तुला शक्ति का कार्य है । यह जड़ पदार्थों को ढकती है तथा मूलाविद्या शुद्ध चेतन को ढकती है ।

**(३) पारमार्थिक सत्ता :-** जिसका तीनों काल में बाध न हो उसको पारमाथिक सत्ता कहते हैं । चेतन का बाध कभी नहीं हो सकता यदि मानेंगे तो उस बाध का अनुभव भी बिना चेतन के नहीं होगा । अत: बाध का अनुभव भी चेतन को ही होगा । इस वास्ते चेतन की

पारमार्थिक सत्ता है । इस प्रकार वेद गुरु और संसार दुःख इन दोनों की व्यावहारिकता होने से संसार दुःख का नाश हो सकता है ।

भूख, प्यास प्राण के धर्म हैं और इनके धर्मों का ब्रह्मज्ञान बिना बाध नहीं हो सकता याने देह है तब तक ये धर्म तो रहेंगे किन्तु अपने आत्मा में ये धर्म नहीं है ऐसा बोध तो ब्रह्मज्ञान से ही होगा ।

यद्यापि ब्रह्मज्ञान से भिन्न समस्त अविद्या का कार्य है इस वास्ते मिथ्या है । परन्तु जिसके अज्ञान से जो कार्य उत्पन्न होता है उसके ज्ञान से उस कार्य का बाध हो सकता है । आत्मा (ब्रह्म) के अज्ञान से जन्म - मरण आदि संसार दुःख उत्पन्न हुआ है । इसलिये ब्रह्मात्म ज्ञान से ही उसका बाध हो सकता है ।

**प्रश्न ७४ – श्रुतियों में जगत् की उत्पत्ति क्रम का परस्पर विरोध क्यों है ?**

**उत्तर –** जैसे स्वप्न के उत्पन्न होने में कोई क्रम नहीं होता किन्तु क्रम बिना ही उत्पन्न होता है और नाना पदार्थों का भास होता है । उसी प्रकार भ्रान्ति से मिथ्या जगत् का भी भास होता है । इस संसार की उत्पत्ति क्रम जो जानने की इच्छा रखता है वह मरुस्थल के पानी में वस्त्र डुबा कर निचोड़ने जैसा व्यर्थ श्रम करता है ।

अथवा जो संसार की उत्पत्ति क्रम को बताकार कहे कि यह क्रम सत्य है वह भी ऐसा ही झूठा है । जैसा कोई कहे मेरी माँ बाँझिन थी याने माँ का शब्द ही बन्ध्यापन का निषेधक है । यदि माँ बन्ध्या है तो फिर तुम कहाँ से ओ गये देखने वाले, कहने वाले ?

इसी प्रकार संसार का उत्पत्ति क्रम कहने से पूर्व कहने वाला या देखने वाला कैसे आ गया ? अतः सृष्टि क्रम का उपनिषदों में अनेक प्रकार से वर्णन किया है । जैसे छान्दोग्य उपनिषद में तो सत्रूप परमात्मा से अग्नि, जल, पृथ्वि ये क्रम से उत्पन्न हुई हैं तथा तैत्तिरीय उपनिषद में आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वि इस क्रम से उत्पन्न कहा है और कहीं सतरूप परमात्मा से ही सब उत्पत्ति का वर्णन बिना क्रम के कहा है ।

इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि चेतन से पृथक् समस्त जगत् मिथ्या है । यदि जगत् का कोई पदार्थ सत्य रूप से होता तो उसकी उत्पत्ति क्रम भी सब शास्त्रों में समान होता । परन्तु वेद में सृष्टि उत्पत्ति क्रम अनके प्रकार से कहा गया है । इस वास्ते वेद का अभिप्राय जगत् की उत्पत्ति कहने में नहीं किन्तु अद्वैत ब्रह्म को जानने (बोध कराने) जगत् का निषेध करने वास्ते किसी एक प्रकार से जगत् का ब्रह्म में आरोप किया है । उत्पत्ति क्रम को एक प्रकार से सत्य बताने का उसका अभिप्राय नहीं है । उत्पत्ति तो कथन मात्र है । मुख्य उद्येश्य तो जगत् का निषेध करने में एवं एक अखण्ड अद्वैत ब्रह्म का आत्मा से अभिन्न बोध जाग्रत कराने में है । जैसे दशहरे के समय आतिशबाजी वाले रावण को बनाते हैं । उसमें कोई अंग टेड़ा हो जाय तो उसे पुनः ठीक नहीं करते क्योंकि उनका अभिप्राय उसे सुन्दर बनाने में नहीं है बल्कि निषेध करने में है ।

उत्पत्ति क्रम भी मंद जिज्ञासुओं के लिये प्रतिपादन किया है । जिनकी बुद्धि, विचार करने में असमर्थ है और जो प्रत्यक्ष दिखने वाले मिथ्या जगत् को विवेक द्वारा बाध नहीं कर सकते हैं, उनको लय चिन्तन क्रम से अद्वैत बुद्धि उत्पन्न कराने हेतु किया है । जो उत्पत्ति क्रम कहा है उसके विपरीत क्रम को लय चिन्तन कहते हैं । याने कार्य का अपने कारण में लय करते जाना व जब अन्त में जिसका कोई कारण न मिले वही लक्ष्यार्थ समझना है । शुद्ध ब्रह्म से तो जगत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती क्योंकि शुद्ध ब्रह्म असंग और अक्रिय है । किन्तु माया विशिष्ट (उपहित) चेतन से ही जगत् की उत्पत्ति होती है ।

**प्रश्न ७५ - माया उपहित चेतन ईश्वर तथा माया का क्या स्वरूप है ? इससे द्वैत क्यों नहीं होता ?**

**उत्तर -** जो शुद्ध ब्रह्म के अश्रित शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति है उसे माया कहते हैं । जब सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण समान अवस्था में होते हैं तब इसे प्रकृति कहते हैं ।

उन तीनों गुणों में जब सत्त्वगुण बढ़कर रजोगुण तथा तमोगुण को दबा लेता है तब उसे माया कहते हैं और अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य, माया व माया में चेतन का आभास पड़ने से ईश्वर कहलाता है ।

यह माया अनादि तथा शान्त है तथा शुद्ध ब्रह्म के आश्रय में रहकर शुद्ध ब्रह्म को ही ढकती है । जैसे गर्भ, मन्दिर या घर के मध्य आश्रित अन्धकार उन्हीं स्थानों को आच्छादित भी करता है । इस पक्ष को स्वाश्रय-स्वविषय पक्ष कहते हैं । माया उत्पत्ति रहित है इसलिये उसे अनादि कहते हैं।

यदि माया की उत्पत्ति मानें तो माया का कार्य प्रपंच जगत् उससे तो माया की उत्पत्ति कही नहीं जा सकती । जैसे पिता की उत्पत्ति पुत्र से नहीं हो सकती । वैसे ही माया का कार्य जगत् से तो माया की उत्पत्ति बन नहीं सकती । अब यदि चेतन से माया की उत्पत्ति माने तो उसमें जीव भाव तथा ईश्वर भाव ये दोनों तो माया के ही कार्य हैं । प्रथम माया न हो तो उसके कार्य जीव तथा ईश्वर का भी होना सम्भव नहीं । इस वास्ते जीव-चेतन तथा ईश्वर -चेतन से माया की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अब बचा हुआ शुद्ध चेतन वह तो असंग, निष्क्रिय और निर्विकार है । उससे तो माया की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । उससे यदि माया की उत्पत्ति मानेगे तो शुद्ध चेतन विकारी कहलावेगा । दूसरी आपत्ति यह खड़ी होगी कि मोक्षदशा में फिर माया उत्पन्न हो जावेगी और ऐसा हुआ तो मोक्षार्थ समस्त उपाय, श्रम व्यर्थ हो जावेंगे तो कोई मुमुक्षु होना ही नहीं चाहेगा ।

इस प्रकार माया उत्पत्ति रहित है । इस वास्ते अनादि है, एक है, सांत याने अंतवाली है । ज्ञान से माया का अन्त हो जाता है । सत् असत् से विलक्षण है क्योंकि जिसका तीनों कालों में बाध न हो वह सत् कहलाता है, ऐसा एक चैतन्य ही है । माया का ज्ञान से बाध होता है इसलिये वह सत् से विलक्षण असत् है । और असत् उसे कहते हैं जिसकी

तीनों कालों में भी प्रतीति न हो । जैसे बन्ध्या पुत्र, खरगोश के सींग ये सब असत् हैं किन्तु माया का कार्य प्रपंच जगत् तो प्रतीत होता है । अस्तु, वह असत् से भी विलक्षण है । याने सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है । उसका कार्य प्रपंच जगत् भी सत् असत् से विलक्षण याने मिथ्या है । इसी को अद्वैत में मिथ्या व अर्निवचनीय भी कहते हैं ।

माया से द्वैत की सिद्धि भी नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म सत्य है। यदि उसी प्रकार माया सत्य होती तो द्वैत सिद्ध होता किन्तु माया व उसका कार्य तो सत् असत् से विलक्षण मिथ्या है और मिथ्या पदार्थ से द्वैत नहीं होता ।

अतः यह माया जीव, ईश्वर विभाग रहित ऐसे शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है और उसीको आच्छादित भी करती है । ऐसी नमकहराम है ''स्वाश्रय स्वविषय'' वाली है ।

**(१)** 'स्व' याने शुद्ध ब्रह्म ही माया का आश्रय है ।

**(२)** 'स्व' याने शुद्ध ब्रह्म ही माया का विषय है याने माया से ढका हुआ है ।

**प्रश्न ७६ - माया का अनुभव किस प्रकार होता है ?**

**उत्तर - (१)** माया का दर्शन उसके कार्य को देखकर पता लगता है । जैसे 'मैं अज्ञानी हूँ', ''ब्रह्म को नहीं जानता'' ऐसे माया प्रतीत होती है।

**(२)** स्वप्न में जो नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं उनका उपादान कारण माया है ।

**(३)** सुषुप्ति से जागने के बाद ऐसी स्मृति होती है कि ''मैंने कुछ नहीं जाना'' मुझे कुछ पता नहीं चला । अतः यह सुषुप्ति में अज्ञान का दर्शन होता है और यह अज्ञान व माया एक ही तत्त्व है ।

**(४)** ज्ञान के द्वारा जिसका भी बाध हो जावे वह सब माया का ही स्वरूप है । ज्ञान के पूर्व माया और उसका कार्य प्रतीत होता है । सम्पूर्ण जगत् प्रतीति उसी का कार्य है ।

**प्रश्न ७७ - जब अज्ञान एक है तो एक को ज्ञान हो जाने पर सबको ज्ञान तथा मोक्ष क्यों नहीं होता ?**

**उत्तर -** यह बात तो सत्य है कि अज्ञान एक है और वह ज्ञान से निवृत्त होता भी है । किन्तु अन्तःकरण नाना होने से जिस अन्तःकरण में ज्ञान होगा उसीका अज्ञान नष्ट होता है तथा वही केवल मुक्त होगा । जिस अन्तःकरण में ज्ञान नहीं होगा वहाँ अज्ञान बना रहेगा और बन्धन भी बना रहेगा । इस प्रकार नाना अन्तःकरण होने से एक अज्ञान पक्ष में बन्ध मोक्ष व्यवहार बन सकता है ।

यदि किसी को अनेक अज्ञान मान कर भी अपने स्वरूप का बोध हो जावे तो उसमें कोई दोष नहीं । प्रक्रियाओं को सत्य समझाना शास्त्र का लक्ष्य नहीं है किन्तु उनके आधार से निज आत्मा का ही अपरोक्ष ज्ञान कराना है । अस्तु, जिस रीति से जिज्ञासु का अद्वैत बोध उत्पन्न हो वह उसी प्रक्रिया से बुद्धि को स्थिर करे । किन्तु एक अज्ञान मानना ही वेद का सिद्धान्त है । जैसे अन्धकार एक होने पर भी जिस घर में दीपकादि का प्रकाश होता है उसी घर का अन्धकार नष्ट होता है, किन्तु अन्य घर में अन्धकार बना रहता है । इस प्रकार एक अज्ञान में भी बन्ध-मोक्ष सम्भव है ।

**प्रश्न ७८- यह एक अज्ञान जीव के आश्रित है या ईश्वर के आश्रित रहता है ?**

**उत्तर -** यह एक अज्ञान न जीव के आश्रित है न ईश्वर के आश्रित है बल्कि शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है क्योंकि :

**(१)** जीव भाव यह अज्ञान का कार्य है और वह अज्ञान कभी स्वतंत्र नहीं रह सकता । इसलिये किसी के (शुद्धचेतन) आश्रय बिना जीवपना सम्भव नहीं हो सकता । प्रथम अज्ञान किसी के सहारे रहे तभी उससे कार्य रूप जीवपना बन सकता है ।

**(२)** जीवपने की तरह ईश्वरपना भी अज्ञान का कार्य है । इस वास्ते उसके आश्रय भी अज्ञान नहीं रह सकता । क्योंकि जिस जीव को ज्ञान होता है उस जीव का अज्ञान नष्ट होने से जीव, ईश्वर, जगत्, माया समस्त भेद-भ्रान्तियाँ निवृत्त हो जाती है । इस वास्ते शुद्ध ब्रह्म के ही सहारे अनादि अज्ञान टिका है ।

चेतन और अज्ञान दोनों अनादि होने से उसका सम्बन्ध भी अनादि है और उस अनादि सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जीव भाव तथा ईश्वर भाव भी अनादि है परन्तु जीव भाव और ईश्वर भाव अज्ञान के आधीन है याने अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं । इससे उनको अज्ञान का कार्य कहने में आता है । शुद्ध ब्रह्म के आश्रित अज्ञान का ही जीव अपने में अभिमान करता है कि ''मैं अज्ञानी हूँ'' । लेकिन जीव अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय जीव नहीं हो सकता किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही आश्रय है ।

**प्रश्न ७९ - ब्रह्म में अज्ञान कैसे सम्भव होगा ?**

**उत्तर -** यह सामान्य चेतन, माया अथवा अविद्या का विरोधी नहीं है बल्कि मददगार है, सहायक है याने माया को सत्ता स्फूर्ति देता है । सामान्य चेतन के कारण ही माया का अस्थित्व प्रतीत होता है । क्योंकि वृत्ति में आरूढ़ जो चेतन है (विशेषज्ञान) वह तो माया का शत्रु है । उससे डरकर अपने समाान्य ब्रह्म में जा छिपती है । जिस घर में बिल्ली हो वहाँ चूहे बिल से नहीं निकलते हैं । अगर निकलते हैं तो बिल्ली फौरन दबा लेती है । ऐसे ही जिस अन्तःकरण में विशेषज्ञान रूपी बिल्ली घूमती रहती है वहाँ यह अविद्या रूपी चूहा उछलकूद, काटना, कुतरना रूप उत्पात खूलकर नहीं कर सकता । इसके भय से भाग ही जाता है ।

अथवा जैसे समान्य अग्नि लकड़ी की विरोधी नहीं होती, किन्तु विशेष रूप से प्रकट हुई अग्नि ही लकड़ी को विरोधी होती है । उसी प्रकार सामान्य ज्ञान (शुद्ध चेतन ब्रह्म) अज्ञान का विरोधी नहीं है क्योंकि हम देखते भी हैं कि सुषुप्ति में अज्ञान भी रहता है और अज्ञान के साक्षी रूप से सामान्य ज्ञान भी रहता है । इसलिये सामान्य चेतन का विरोधी नहीं है ।

**प्रश्न ८० - कारण कितने प्रकार के होते हैं तथा जगत् की उत्पत्ति का कौनसा कारण है ?**

**उत्तर -**कारण दो प्रकार के होते हैं । एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण ।

**(१) उपादान कारण -** ''जिस वस्तु का कार्य में प्रवेश हो और जिसके बिना उस कार्य को स्थिति भी न रह सके उसे उपादान कारण कहते हैं '' । जैसे स्वर्ण का अलंकार में प्रवेश है याने बिना स्वर्ण के अलंकार को बनाना असंभव है इस वास्ते स्वर्ण अलंकार का उपादन कारण है ।

**(२) निमित्त कारण -** ''जिस वस्तु का कार्य में प्रवेश न हो, जो कार्य को पृथक् रहकर उत्पन्न करता है तथा जिसके नाश से उत्पन्न हुआ कार्य नष्ट नहीं होता उसे निमित्त कारण कहते हैं'' । जैसे स्वर्णकार तथा उसके अलंकार बनाने के यन्त्रों का अलंकार में प्रवेश न होकर पृथक् रहकर ही अलंकर बनाते है तथा बन जाने के बाद यदि स्वर्णकार की मृत्यु हो जावे या औजार टूट जावे तो भी बने हुए अलंकार का नाश नहीं होता ।

जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ईश्वर ही है। जैसे एक ही मकड़ी (उर्णनाभी) जाले का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है याने उत्पन्न भी करती है व अलग भी रहती है । उसमें जड़ शरीर जाले का उपादान कारण है तथा चेतन उस जाले का निमित्त कारण है । इस प्रकार एक ही ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ।

ईश्वर का शरीर जो जड़ माया है वह जगत् का उपादान कारण है और चेतन भाग निमित्त कारण है । यानेतम प्रधान प्रकृति रूप माया जगत् का उपादान कारण है और शुद्ध सत्त्वप्रधान माया सहित चेतन भाग निमित्त कारण नहीं है ।

स्वप्न दृष्टान्त में ऐसा समझना है कि साक्षी चेतन स्वप्न में दिखती हुई सृष्टि का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों हैं वैसे ही ईश्वर भी जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है । जब जीव के कर्म फल देने को तत्पर हो, तब सृष्टिकाल तथा कर्म जब अपरिपक्व हो, तब प्रलय काल कहा जाता है ।

## प्रश्न ८१- सृष्टि उत्पत्ति कब व कैसे होती है ?

**उत्तर** -जब जीवों के कर्म, भोग देने में असमर्थ हो जाते हैं तब प्रलय होती है। समस्त जीवों के शेष कर्म जो अभी फल देने योग्य नहीं हुए हैं, तब तक वे बीज रूप से माया में स्थित रहते हैं और जब वे कर्म फलित हो जाते हैं तो उन कर्मों को भुगवाने हेतु सृष्टि की उत्पति होती है ।

संसार अनादि प्रवाह रूप है । इसलिये उत्तर-उत्तर सृष्टि में पूर्व-पूर्व सृष्टि के कर्म संस्कार ही हेतु है । सबसे प्रथम कोई सृष्टि ही नहीं तो उसे कोई कैसे बतावे । पूर्ण काम ईश्वर जीवों के फल भुगवाने हेतु सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं ।

जैसे सफेद बादल वर्षाकाल में काले हो जाते हैं वैसे ही प्रकृति सत, रज, तम की समान अवस्था में ईश्वर की इच्छा से क्षोभ उत्पन्न होता है और सत्त्वगुण बढ़कर रजोगुण और तमोगुण को दबा लेता है । उस सत्वगुण प्रधान माया उपाधिवाला ईश्वर तमोगुण प्रधान माया से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वि इन पांच भूतों की उत्पत्ति कराता है, फिर उन भूतों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पांच गुण उत्पन्न होते हैं ।

एक बात यह समझ लेना चाहिये कि यह सृष्टि क्रम बन्ध्या पुत्र की तरह ही है, क्योंकि अनादि प्रवाह को किसी ने देखा तो है नहीं । फिर जो भी सृष्टि क्रम कहने चलेगा वह असत्य का ही वर्णन करेगा । जो न हो उसीको माया कहते हैं । फिर उसका क्रम कुछ भी कहा जाय वह भी मिथ्या ही है । अतः सृष्टि क्रम पर विवाद नहीं करना चाहिये ।

मनुष्य तो क्या ईश्वर ने भी सृष्टि क्रम नहीं जाना । ब्रह्मा बेचारे चक्कर में पड़ गये कृष्ण के गाय, बछड़े छिपाकर क्योंकि वे फिर नये उत्पन्न कर लिये गये । माया, जीव, ईश सभी अनादि हैं तो उसका पार कौन खोज कर लावेगा ? सृष्टि क्रम की कल्पना तो मन्द जिज्ञासु हेतु ही शास्त्रों में की है ताकि वह आने के क्रम के विपरीत क्रम से एक अद्वितीय ब्रह्म का बोध कर सेकगा । अतः वेदान्त विचार में गरीब याने असमर्थ हेतु ही लय चिन्तन द्वारा सृष्टि का उत्पत्ति का क्रम काल्पनिक बनाया है ।

पंचभूत की उत्पति क्रम को मानने वाले से पूछा जाय कि क्या देह की उत्पत्ति भूतों के बिना हो सकती है ? तब देह एवं इन्द्रियों के अभाव में आपने सृष्टि क्रम की सत्यता कैसे जानी ? कैसे देखा व किस स्थान पर खड़े होकर देखा ? क्योंकि तब न पृथ्वी, न जल न तेज, न वायु और आकाश भी है; तो ऐसी अवस्था में आप स्वयं का देह किस आधार से बना, टिका व आपने देखा ? अतः यह सृष्टि क्रम सब मिथ्या है इतना सा बोध हो जावे तो उत्पत्ति की सत्यता जान सकता है ।

इस प्रकार पंचभूत के पंच गुण पैदा हुए । माया से शब्द सहित आकाश की उत्पति होती है। वायु आकाश का कार्य है । अतः आकाश कारण का शब्द गुण वायु कार्य में भी आता हैं, क्योंकि कारण के गुण कार्य में होते हैं यह नियम है । वायु का अपना गुण स्पर्श तथा आकाश का शब्द इस प्रकार शब्द, स्पर्श, गुण वायु से तेज की उत्पत्ति होती है इसमें शब्द, स्पर्श तो आकाश व वायु के तथा रूप तेज का अपना गुण होता है । शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण वाले तेज से जल की उत्पत्ति होती है । जल में आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, तेज का रूप, व जल का अपना रस-गुण होता है । इसी प्रकार जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है । इसमें चार गुण अपने पूर्व भूतों के तथा गन्ध गुण पृथ्वी का अपना होता है । इस प्रकार पृथ्वी में शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पाँच गुण पाये जाते हैं । जल में चार, तेज में तीन, वायु में दो तथा आकाश में एक गुण होता है ।

(१) अकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द है ।

(२) वायु में सी - सी शब्द और उष्ण, शीत, कठिन से विलक्ष्ण स्पर्श है ।

(३) अग्नि रूप तेज में भुक भुक शब्द, उष्ण स्पर्श और प्रकाश रूप है ।

(४) जल में कल-कल शब्द, शीत स्पर्श, शुक्लरूप और मधूर रस है ।

(५) पृथ्वी में कट - कट शब्द, उष्ण, शीत से विलक्षण कठिन स्पर्श, सफेद, काला, भूरा, नीला, लाल, पीला, हरा आदि रूप; मीठा, खट्टा, कड़ुवा, कसैला, तीता रस तथा अपना गन्ध गुण है । गन्ध भी दो प्रकार की है - एक सुगन्ध तथा दूसरी दुर्गन्ध । सबका मूल कारण ईश्वर है । उसके माया और चेतन दो भाग हैं । संसार में मिथ्या भाग माया का है और सब भूतों में सत्ता स्फूर्ति चेतन का भाग है ।

**प्रश्न ८२ -अन्तःकरण की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?**

**उत्तर -** अन्त: करण याने भीतर की इन्द्रिय । तमोगुण प्रधान भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति हुई किन्तु उसमें केवल तमोगुण ही है ऐसा नहीं बल्कि गौण स्थिति में पांचों भूतों में सत्त्वगुण तथा रजोगुण भी रहता ही है । ये पांचों गुणों के मिलित सत्त्वगुण अंश से अन्तःकरण उत्पन्न होता है । 'सत्वात्संजायते ज्ञानम्' अन्तःकरण सत्त्वगुण का कार्य होने से इसे 'सत्त्व' भी कहते हैं । ज्ञानेन्द्रियों का सहायक है याने ज्ञान का हेतु है । मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चार अन्तःकरण के परिमाण रूप वृत्ति हैं ।

**प्रश्न ८३ - ज्ञानेन्द्रियाँ कैसे उत्पन्न हुई ?**

**उत्तर -** पंच महाभूतों के पृथक् - पृथक् सत्त्वगुण से एक - एक ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुई याने आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वचा, तेज से चक्षु, जल से जिह्वा और पृथ्वी से नासिका । प्रायः ये इन्द्रियां बहिर्मुख होकर दौड़ती है । अर्थात् बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं । अत्मा की ओर नहीं देख पातीं। इससे पराक् (बाहरी विषय) को देखती है प्रत्यक् (भीतरी आत्मा) को नहीं । ये इन्द्रियॉ अपंचीकृत भूतों का कार्य होने से

अतिसूक्ष्म हैं इसलिये उनके कार्य देख उनका अनुमान किया जाता है। इन्द्रियों के होने में उनका कार्य हेतु है । भावार्थ यह है कि कान, त्वचा, चक्षु आदि में टिकी ये इन्द्रियां शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुणों को विषय (ग्रहण) करती हैं ।

पराक् और प्रत्यक् याने बाहर और आत्मा सबके भीतर है प्रकाशक होने से। उसे छोड़ बाहर के विषय ग्रहण करना इनका धर्म है। कान को बन्द कर लेने के बाद प्राणवायु तथा जठराग्नि में विद्यमान जो भीतर का शब्द सुना जाता है और जल पीने तथा अन्न के भक्षण में अन्दर की गर्मी, शीतलता, अपच आदि अन्दर के स्पर्श भी अनुभव में आते हैं । नेत्रों के बन्द करने पर अन्धकार का प्रतीत होना और मन में भीतर की गन्ध और रस दोनों ग्रहण करता है । ये सब विषय को ग्रहण होने पर भी पराक् (बाहर) ही कहा जाता है । श्रुति भी इन्द्रियों को बहिर्मुखी कहती है कि ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी रचा है इसीसे पराक् (बाहरी विषय) को देखती है ।

**परांचिखानि व्यतृणत्स्वयं भूतः**

जो इन्द्रिय जिस भूत के गुण को ग्रहण करती है वह उसी भूत से उत्पन्न हुई जानना चाहिये । जैसे श्रोत्रिन्द्रिय आकाश के शब्द गुण ग्रहण करती है इसलिये आकाश को जानना चाहिये ।

**प्रश्न ८४ -कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे हुई ?**

**उत्तर -** पंचभूतों के पृथक्-पृथक् रजोगुण अंश से पाँच कर्मेन्द्रियों वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (चरण), पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग, योनि) की उत्पत्ति होती है जिनसे वचन, आदान (लेना देना), गमन (चलना), विसर्ग (मलत्याग) विषयानन्द ये जगत् में प्रसिद्ध पाँचों कर्मेन्द्रिय के कार्य हैं । और कृषि, व्यापार, सेवा शासनादि भी इन्हीं पांचों विषय के ही अन्तर्भाव हैं । मुख, चरण, हाथ, गुदा तथा शिश्न में ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ रहती हैं । इस प्रकार आकाश के रजोगुण अंश वाक्,

वायु के रजोअंश से हाथ, तेज के रजोअंश से चरण, जल के रजोअंश से लिंग तथा पृथ्वी के रजोअंश से गुदा की उत्पत्ति हुई ।

''ये पांचों इन्द्रियां क्रिया के साधन होने से कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं ।'' क्रिया रजोगुण से होती है । इस वास्ते रजोगुण अंश में से उनकी उत्पत्ति हुई । इसलिए 'रजः कर्माणि भारत' कहलाती है । ''ज्ञान के साधन होने से ज्ञान कराने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाति हैं ।''

**प्रश्न ८५ - प्राणों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?**

**उत्तर -**पंचभूतों के मिले हुए रजोगुण अंश से प्राण उत्पन्न होता है । वह प्राण भिन्न-भिन्न क्रिया एवं स्थान भेद से पांच प्रकार का है ।

**(१) प्राण :-** जिसका स्थान हृदय है । भूख-प्यास उसकी क्रिया होती है । तथा २१,६०० श्वाँसोच्छ्वास रूप कर्म करता है ।

**(२) अपान :-** स्थान गुदा है तथा क्रिया मलत्याग करना है ।

**(३) समान :-** स्थान नाभि तथा खाये-पीये अन्न-जल को पाचन योग्य करने की क्रिया करता है ।

**(४) उदान :-** स्थान कंठ तथा खाये-पीये अन्न-जल का विभाजन करता है । हिता नाम कि नाड़ी में स्वप्न दिखाता है ।

**(५) व्यान :-** स्थान समस्त शरीर में रहकर सभी जोड़ों को हिलाता है, कहीं-कहीं नाग, कूर्म, कृक्कल, देवदत्त तथा धनंजय ऐसे पाँच उपप्राण अधिक भी माने जाते हैं । और उनकी डकार, निमेष (पलक बन्द होना, खुलना), छींक, उवासी (जम्हाई) और मरे हुए शरीर को फुलाना आदि क्रियाएँ हैं ।

**प्रश्न ८६- अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न सूक्ष्म सृष्टि को पंचीकृत करने का क्या प्रयोजन है ?**

**उत्तर -** अपंचीकृत भूत और उनका कार्य अन्तःकरण, प्राण, ज्ञान इन्द्रियाँ और कर्म इन्द्रियाँ यह सूक्ष्म सृष्टि कहलाती हैं । सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान

इन्द्रियों से नहीं होता । नेत्र, नासिका आदि गोलक तो इन्द्रियों के विषय (स्थान) हैं। गोलक में रहने वाली इन्द्रिय किसी इन्द्रिय का विषय नहीं, इसलिये सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति के बाद ईश्वर की इच्छा से स्थूल सृष्टि के लिये भूतों का पंचीकरण हो गया ।

**प्रश्न ८७ -पंचीकरण किसे कहते हैं और पंचभूतों का पंचीकरण कैसे हुआ ?**

**उत्तर -** पंच वस्तुओं का आपस में मिश्रण क्रिया को ही पंचीकरण कहते हैं। सर्वप्रथम पंच भूतों के समान दो दो भाग हुए । पश्चात् पाँच आधे भूत को सुरक्षित रख शेष पांच आधे भागों को पुनः चार-चार समान भागों में विभाजित किया गया । विभाजित भूत के शेष बचे अर्ध भाग को छोड़ बाकी अन्य-चार आधे भूतों को वह अपनी ओर का हिस्सा प्रदान कर दिया । इस प्रकार अपने आधे विभाजित भाग अन्य चार भूतों से उसी प्रकार समान अंश को प्राप्त कर ज्यों का त्यों पंचीकृत होकर पूर्ण हो गया । इस प्रकार की प्रक्रिया को पंचीकरण कहते हैं ।

इस पंचीकरण पद्धति से इन्द्रियों का विषय स्थूल ब्रह्माण्ड पैदा हो गया और जीवों को भोगने योग्य अन्न, औषधादि उपयोगी वस्तु तथा भोग के स्थान देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर पैदा हुए । सृष्टि का यह संक्षेप से निरुपण है । माया के कार्यों का निरुपण करने में तो करोड़ों ब्रह्माओं की आयु बीत जाय तो भी माया रचे पदार्थों का अन्त नहीं आ सकता । यह बात बाल्मीकिजी ने अपने योगवशिष्ठ ग्रंथ में अनेक इतिहासों से निरुपित की है ।

**प्रश्न ८८ -शुद्ध ब्रह्म में प्रंपच का आरोप कैसे हुआ ?**

**उत्तर -**अनादि शुद्ध में अनादि कल्पित प्रकृति है । उस प्रकृति का ब्रह्म के साथ अनादि कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है याने कल्पित भेद सहित वास्तव में अभेदरूप सम्बन्ध है ।

वह प्रकृति (१) माया (२) अविद्या (३) तमः प्रधान प्रकृति रूप को प्राप्त होती है । इसमें जो :-

(१) शुद्ध सत्व गुण युक्त है वह माया है ।

(२) जो मलिन सत्वगुण युक्त है वह अविद्या है ।

(३) जो तमोगुण की प्रधानता से मुक्त है वह तमःप्रधान प्रकृति है।

माया में जो शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब है वह बिम्ब अधिष्ठान ब्रह्म और माया सहित जगत् कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है । अविद्या में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वह बिम्ब अधिष्ठान कूटस्थ और अविद्या सहित भोक्ता अल्पज्ञ जीव कहलाता है ।

वह ईश्वर और जीव भी अनादि कल्पित हैं । उसमें ईश्वर की उपाधि माया एक है और आपेक्षिक व्यापक है (माया की अपेक्षा से व्यापक है ब्रह्म की अपेक्षा से परिच्छिन्न है) उसमें ईश्वर एक है और व्यापक है । जीव की उपाधि अविद्या जन्य नाना हैं और परिच्छिन्न हैं । उससे जीव भी नाना हैं और परिच्छिन्न हैं । उन जीव-ईश्वर का अनादि कल्पित भेद है ।

सृष्टि से पूर्व यह जीवों की अविद्या उपाधि जीवों के कर्म सहित माया अथवा सुषुप्ति में अविद्या की तरह ब्रह्म से भिन्न प्रतीत नहीं होती । इस वास्ते सृष्टि से पूर्व सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहित एक ही अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म था ।

उस ब्रह्म को सृष्टि के आरम्भ में जीवों के परिपक्व हुए कर्मों के निमित्त से मैं ''एक से बहुत रूप हो जाऊँ'' ऐसी इच्छा हुई । उस इच्छा से ब्रह्म की उपाधि माया में क्षोभ (कार्य करने हेतु चेतना) होने से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वि ये पंचभूत उत्पन्न हो गये । उनका पंचीकरण हुआ था। उनसे समष्टि-व्यष्टिरूप सूक्ष्म होकर फिर ईश्वर की इच्छा से भोग्य योग्य स्थूल समष्टि व्यष्टि सृष्टि पंचीकरण द्वारा हुई ।

उनमें समष्टि स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रपंच का अभिमानी जीव की दृष्टि से ईश्वर है और व्यष्टि स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रंपच का अभिमानी जीव है। उसमें ईश्वर सर्वज्ञ होने से नित्यमुक्त है और जीव अल्पज्ञ होने से बद्ध है । इस प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में प्रपंच का आरोप हुआ ।

जो वस्तु जिसमे सत्यता से न हो केवल मिथ्या प्रतीत हो वह अरोप कहलाती है तथा वह आरोप का अपवाद (निवृत्ति) अधिष्ठान के ज्ञान से हो जाता है । यह प्रपंच का अरोप रस्सी में सर्प, दर्पण में नगर, साक्षी में स्वप्न की तरह मिथ्या है । अब यह कब से लगा, किसने लगाया इन मूर्खता भरी बातों पर विचार तर्क करने से कोई लाभ नहीं है जैसे कहीं मकान या कपड़े में आग लगी हो तो क्यों ? कैसे ? न कर उसे बुझाने की युक्ति तत्काल करना ही बुद्धिमता है या कोई जल में डूब रहा हो वहाँ क्यों ? कैसे ? किसको ? यह सब जानकारी उसी समय न कर उसकी रक्षा में जुट जाना चाहिये । व्यर्थ प्रश्न से क्या लाभ ? अस्तु ! ब्रह्म ज्ञान द्वारा अविद्या, माया और उनके कार्य सहित प्रकृति की निवृति करनी चाहिये । और उससे जीव भाव तथा ईश्वर भाव की निवृत्ति कर एक अद्वितीय ब्रह्म 'मैं हूँ' ऐसा निश्चय बोध करना चाहिये । इस ब्रह्मज्ञान द्वारा जीव ईश्वर के भेद व सम्बन्ध की भ्रान्ति निवृत्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है । ब्रह्म प्राप्ति हेतु तीन देह, पंचकोश, तीन अवस्था का विचार अन्वय व्यतिरेक द्वारा करने से होता है ।

**प्रश्न ८९ - स्थूल देह का मैं द्रष्टा कैसे हूँ ? और उनका क्या स्वभाव है ?**

**उत्तर** –स्थूल देह का द्रष्टा :

अपंचीकृत भूतों के पंचीकरण से पंचमहाभूत के २५ तत्त्व वाला स्थूल शरीर बना । एक-एक महाभूत के पाँच-पाँच तत्त्व होने से २५ तत्त्व हुए । जिसमें:-

(१) आकाश के = शोक, काम, क्रोध, मोह, भय

(२) वायु के = प्रसारण, धावन, वलन, चलन, अंकुचन

(३) तेज के = निद्रा, तृष्णा, क्षुधा, कान्ति, आलस्य

(४) जल के = लार, स्वेद, मूत्र, रज-वीर्य,रक्त

(५) पृथ्वी के = रोम, त्वचा, नाड़ी, मांस, हाड़

इस प्रकार पंच महाभूत के पच्चीस तत्त्व मिल कर यह स्थूल शरीर भोग आयतन बना और मैं इन पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला इससे पृथक् चैतन्य आत्मा हूँ । ये तत्त्व पंचमहाभूतों के हैं । ये मैं नहीं और न ये तत्त्व मेरे हैं।

शोक होता है तब भी मैं जानता हूँ और शोक नहीं होता है तब भी उसके अभाव को मैं जानता हूँ इसलिये यह शोक मैं नहीं, यह शोक मेरा नहीं किन्तु यह शोक आकाश का है और मैं इस शोक का जानने वाला द्रष्टा घट द्रष्टा की तरह इससे न्यारा हूँ । इस प्रकार अन्य २४ तत्त्वों को इसी रीति से समझकर अपने आपको इन पच्चीस तत्त्वों से पृथक् जान लेने से स्थूल शरीर के धर्म, नाम, रूप, जाति, आश्रय, वर्ण, सम्बन्ध, परिणाम, जन्म-मरण आदि भी मैं नहीं और वे मेरे नहीं, कयोंकि ये सब स्थूल देह के हैं । सूक्ष्म देह में भी नहीं है तो मुझ आत्मा में तो हो ही कैसे सकते हैं ?

**नाम :-** विचार करने से ज्ञात होता है कि जन्म से प्रथम नाम नहीं था और मृत्यु के बाद भी यह नाम नहीं रहेगा । शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो का विचार करने से भी मुख्यनाम कहीं मिलता नहीं । इसलिये यह नाम भी मेरा नहीं, यह नाम मैं नहीं, यह नाम स्थूल देह में पिता माता द्वारा कल्पित है । मैं इसका जानने वाला इससे पृथक् हूँ ।

**जाति :-** ब्राह्मणादिक जाति स्थूल देह की है । सूक्ष्म देह और आत्मा की भी कोई जाति नहीं है । क्योंकि लिंग, देह और आत्मा तो जो पूर्व देह में था वही वर्तमान देह में है, और वही भावी देह में भी रहता है । किन्तु यही जाति तो न पूर्व देह में थी न भावी देह में रहेगी

इस वास्ते जाति स्थूल देह की है मुझ चैतन्यात्मा की नहीं । फिर शरीर के किसी भी अंग में जाति देखने से नहीं मिलती । नाम की तरह जाति भी स्थूल देह में आरोपित की गई है । अतः यह जाति मैं नहीं, यह जाति मेरी नहीं, यह जाति पिता, माता द्वारा स्थूल देह में आरोपित है और मैं इस जाति का जानने वाला पृथक् द्रष्टा आत्मा हूँ ।

**आश्रम :-** ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चारों आश्रम भिन्न-भिन्न कर्म कराने हेतु स्थूल देह में आरोपित हैं । देखने से मनुष्य मात्र में नहीं मिल सकते । अस्तु, ये आश्रम मैं नहीं, ये आश्रम मेरी नहीं, ये आश्रम स्थूल देह में आरोपित है और मैं इन आश्रमों का जानने वाला द्रष्टा उनसे पृथक् हूँ ।

**वर्ण :-** गौर, श्याम, रक्त, पीतादि जो रंग है वह स्थूल शरीर में प्रत्यक्ष है और वह रंग व स्थूल देह मैं नहीं, वर्ण व स्थूल देह मेरा नहीं, यह दोनों पंच महाभूतों के कार्य हैं । मैं देह के रंगो को जाननेवाला घटद्रष्टा की तरह इनसे पृथक् हूँ ।

**सम्बन्ध :-** पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य, स्त्री, पुरुष, स्वामी, सेवक इत्यादि सम्बन्ध स्थूल देह के हैं । जो कि परस्पर प्रसिद्ध मिथ्या माने जाते हैं। विचार करने से एक स्त्री या पुरुष में नाना उपाधि नहीं मिलती । ये स्थूल देह में आरोपित हैं और मैं इनको जानने वाला इन सम्बन्धों से पृथक् चैतन्यात्मा हूँ ।

**परिणाम :-** लम्बा, छोटा, टेड़ा, सीधा, मोटा, पतला, आदि आकार भी स्थूल देह में प्रत्यक्ष है । मैं स्थूल देह से न्यारा निराकार हूँ । इस वास्ते मैं इन आकारों को जानने वाला द्रष्टा निराकार आत्मा इनसे पृथक् हूँ ।

**जन्म-मरण :-** आत्मा का जन्म माने तो आत्मा अनित्य होगा, क्योंकि जिसका जन्म है उसका नाश भी है । इसलिये आत्मा मैं अजन्मा, अविनाशी हूँ, क्योंकि पूर्व जन्म में मैं था उसी कर्मानुसार वर्तमान देह में

सुख-दुःख भोग रहा हूँ तथा आज के शुभाशुभ कर्मों का फल आगे भोगने को भी रहूँगा । देह का दाह संस्कार तो यहीं हो जाता है । यदि मैं आत्मा भी मर जाऊँ ऐसा मान लें तो पूर्व जन्म में नहीं किये कर्म का आत्मा को नौ मास माँ के गर्भ का कष्ट व बाहर के सुखः-दुख का भोग मानना पड़ेगा । तथा इस जन्म में मरण के पूर्व किये शुभकर्म का भोग बिना नाश होने से कर्म व्यर्थ चले जावेगें क्योंकि आगे तो मुझे होना नहीं ।

इस प्रकार ये दो महान दोष खड़े हो जावेगें और वेद में जो स्वर्ग, नरकादि कर्म का फल बताया है, कर्मानुसार ऊँच नीच योनि में भ्रमण कहा है वे सब व्यर्थ सिद्ध होने से वेद ही निष्फल हो जावेगा । और किसी भी पुरुष की शुभ कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी क्योंकि लोगों में दया, प्रेम, क्षमा, दान आदि की भावना परलोक में फल प्राप्ति को ही आशा से होती है । यदि हम आगे न रहेंगे ऐसा निश्चय होता तो लोग पशुवत् ही जीवन जीते रहेंगे । यदि आत्मा को कर्ता-भोक्ता भी माने तो भी अजन्मा ही मानना पड़ेगा ।

आत्मा के जन्म-मरण का कोई कारण भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि आत्मा का जो कारण होगा वह आत्मा से भिन्न होना चाहिये । और आत्मा से भिन्न समस्त अनात्मा नाम, रूप है । वे अपने अधिष्ठान के कारण तो हो नहीं सकते । वे तो स्वयं आत्मा में अध्यस्त हैं स्वर्ण में अलंकार की तरह ।

दूसरा घटाकाश के स्वरूप महाकाश की तरह आत्मा का स्वरूप ब्रह्म ही है । उससे भिन्न नहीं है । इसलिये आत्मा का ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता । तो आत्मा का कोई कारण नहीं है । कारण न होने से आत्मा का जन्म भी सम्भव नहीं है । जन्म न होने से आत्मा का मरण भी नहीं है। अस्तु, आत्मा जन्म, प्रगटना, वृद्धि, युवा, वृद्ध तथा मरण इन छह विकारों से रहित निर्विकार है । ये छह धर्म स्थूल देह के हैं जो कर्मानुसार होते हैं

और मैं इन विकारों को जाननेवाला इनका द्रष्टा इनसे पृथक् हूँ । इस प्रकार मैं स्थूल देह का द्रष्टा हूँ ।

**प्रश्न ९० - सूक्ष्म देह कितने तत्त्वों का है और इसके समझने का क्या फल है ?**

**उत्तर** -श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पंचज्ञानेन्द्रिय वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा ये पंच कर्मेन्द्रिय व प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पंचप्राण व मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चार अन्तःकरण की वृत्तियां, इस प्रकार कुल १६ तत्त्वों का संघात सूक्ष्म देह कहलाता है। कहीं मन, बुद्धि में चित्त, अहंकार का अर्न्तभाव करने से १७ तत्त्व का भी माना जाता है ।

अपंचीकृत पंचमहाभूतों के मिलित सत्त्व अंश से अन्तःकरण तथा पृथक-पृथक् सत्त्व अंश से पाँच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुई । अपंचिकृत पंच महाभूतों के मिलित रजोअंश से पंचप्राण तथा-पृथक् पृथक् रजोअंश से पंच कर्म इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई । अपंचीकृत पंचमहाभूतों के तमोगुण अंश से विषय उत्पन्न हुए ।

कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियों के सेवक हैं । इन दोनों की मित्रता है । ज्ञानेन्द्रियों का जो विषय होता है कर्मेन्द्रियाँ उनके लिये सेवा उपस्थित करती हैं ।

जैसे (१) आकाश के सत्वगुण का भाग श्रोत्र है ।

(२) आकाश के रजोगुण का भाग वाक् है ।

(१) श्रोत्र इन्द्रिय शब्द को सुनना चाहती है तो

(२) वाक् इन्द्रिय शब्द को बोलती है ।

श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय है और वाक् कर्मेन्द्रिय है । इन दोनों की मित्रता है।

(३) वायु के सत्त्वगुण का भाग त्वचा ज्ञानेन्द्रिय है

(४) वायु के रजोगुण का भाग हाथ कर्मेन्द्रिय है ।

त्वचा इन्द्रिय सर्दी-गर्मी, मक्खी, मच्छर, चींटी का अनुभव करती है तो हाथ इन्द्रिय फौरन कपड़े ओढ़ाने तथा पंखा झेलने का काम व भगाने का काम करती है । इस प्रकार सभी इन्द्रियों की मित्रता है ।

(५) तेज के सत्त्वगुण का भाग नेत्र ज्ञानेद्रिय है ।

(६) तेज के रजोगुण का भाग पाद कर्मेन्द्रिय है

चक्षु रूप देखना चाहती है तो पैर उधर को गमन करने लगते हैं ।

(७) जल के सत्त्वगुण का भाग जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय है ।

(८) जल के रजोगुण का भाग उपस्थ कर्मेन्द्रिय है ।

जीभ रसास्वादन करना चाहती है तो उपस्थ योनि रस का त्याग करने लग जाती है ।

(९) पृथ्वी के सत्त्वगुण का भाग घ्राण ज्ञानेन्द्रिय है ।

(१०) पृथ्विी के रजोगुण का भाग गुदा कर्मेन्द्रिय है घ्राणन्द्रिय सुगंध का वातावरण चाहती है तो गुदा इन्द्रिय गंध का त्याग करती है ।

उपरोक्त १६ तत्त्व 'मैं नहीं' और 'वे मेरे नहीं' । यह अपंचीकृत पंच महाभूतों के हैं यह समझने का फल है ।

**प्रश्न ९१- यह सूक्ष्म शरीर के २५ तत्त्व मैं नहीं और मेरे नहीं यह कैसे जानें ?**

**उत्तर -**जो जिसको जानता है वह उससे भिन्न ही होता है । यह नियम है और मैं समस्त तत्त्वों को जानता हूँ । इस वास्ते घट द्रष्टा की तरह इनसे अलग हूँ ।

जैसे जाग्रत अवस्था के समय इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों की सहायता से मैं प्रकाश करता हूँ याने जानता हूँ । स्वप्न अवस्था में इन्द्रिय के बिना केवल अन्तःकरण की सहायता से मैं जानता हूँ एवं सुषुप्ति में तो बिना अन्तःकरण और इन्द्रिय के केवल मैं ही प्रकाशता हूँ ।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों में भी जब श्रोत्र शब्द को सुनता है उसको भी मैं जानता हूँ और जब नहीं सुन पाता उसको भी जानता हूँ। इस वास्ते श्रोत्र मैं नहीं, यह मेरा नहीं, बल्कि आकाश के सत्त्वगुण का है । मैं इसको जानने वाला हूँ और जो जानता है वह उससे पृथक् होता ही है । ये पांचो ज्ञानेन्द्रियां आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंचभूत के स्वतंत्र सत्त्वगुण से बनी है । इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियों का भी द्रष्टा हूँ । ये अपंचिकृत पंचभूत के स्वतंत्र रजोगुण की है ।

पांचों प्राण क्रिया करते हैं उसको, तथा नहीं करते उसके अभाव को भी मैं जानता हूँ । इसलिये मैं इन प्राणों से पृथक् हूँ । वे पंचभूत के मिलित रजोगुण अंश के हैं तथा मन संकल्प विकल्प करता है उसे तथा वह संकल्प नहीं करता है। बुद्धि निश्चय करती है तब व निश्चय नहीं कर पाती है उसे । चित्त चिन्तन करता है तब व चित्त शान्त होता है तब। अहंकार अभिमान करता है तब तथा नष्ट होता है तब भी मैं इनको जानता हूँ । इस वास्ते घट द्रष्टा की तरह इनसे पृथक् हूँ। इस प्रकार ये १९ तत्त्व मैं नहीं और मेरे नहीं यह जाना जाता है ।

**प्रश्न ९२ - सूक्ष्म शरीर मैं नहीं इसके जानने से क्या लाभ है ?**

**उत्तर -** सूक्ष्म देह के धर्म पुण्य-पाप, कर्ता-भोक्तापना, लोक-परलोक में गमनागमन, वैराग्य, शमदमादि सात्त्विकी वृत्तियां और राग द्वेषादि राजसीक वृत्तियां और निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि तामसी वृत्तियां, भूख-प्यास, अन्धपना, मन्दपना, पटुता आदि धर्म मैं नहीं और मेरे नहीं यह निश्चय होता है।

**प्रश्न ९३ - लिंग देह के धर्म मेरे नहीं यह कैसे जानें ?**

**उत्तर -**जो वस्तु विकारी होती है वही क्रियवान् होती है । उसको कर्ता कहते हैं और जो कर्ता होता है वही भोक्ता कहलाता है । मैं निर्विकार कूटस्थ होने से क्रिया का कर्ता नहीं इसलिये भोक्ता भी नहीं । अन्तःकरण (लिंगदेह) परिच्छिन्न है । सुषुप्ति में लय हो जाता है तथा उसका प्रारब्ध

कर्म के बल से लोक-परलोक मैं आना-जाना होता है। किन्तु मैं व्यापक, अचल, अपरिच्छिन्न में यह धर्म सम्भव नहीं है ।

सात्त्विक, राजसिक, तामसिक वृत्तियां भी मैं नहीं, ये मेरी भी नहीं, ये अन्तःकरण की हैं । मैं इनके जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के भाव को (होने को) तथा सुषुप्ति में इनके अभाव को प्रकाशित करनेवाला आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ । इस प्रकार लिंग देह के धर्म मुझ द्रष्टा को स्पर्श नहीं कर सकते ।

नेत्रादिक इन्द्रिय अपने विषय को बिलकुल ग्रहण न करे तो उनका अन्धपनादि है । उसको मैं जानता हूँ और विषय को थोड़ा ग्रहण करे तो यह उनका मन्दपना है । उसको भी मैं जानता हूँ तथा विषय को स्पष्ट ग्रहण करती है तो यह उनकी पटुता को (होशियारी को) भी मैं जानता हूँ । इस प्रकार यह मैं नहीं, यह मेरी नहीं, यह सूक्ष्म देह का धर्म है, मैं इसका द्रष्टा इससे पृथक् हूँ ।

**प्रश्न ९४ - कारण शरीर किसे कहते हैं तथा वह मैं नहीं और मेरा नहीं यह कैसे जाने ?**

**उत्तर -** पुरुष का अज्ञान ही कारण देह है । जब सुषुप्ति से उठता है तब कहता है कि आज मैं इतनी गहरी नींद में सोया था कि कुछ भी पता नहीं चला । इस कथन से सुषुप्ति में अज्ञान सिद्ध होता है । और जाग्रत में भी ''मैं ब्रह्म को नहीं जानता'' मेरे होश ठिकाने नहीं है, मुझे कुछ याद नहीं है'' इस प्रकार का कथन भी अज्ञान को सिद्ध करता है । स्वप्न का कारण भी निद्रा रूप अज्ञान है ऐसा जो अज्ञान है उसीको कारण देह कहते हैं ।

मैं जानता हूँ और मैं नहीं जानता हूँ ऐसी जो अन्तःकरण की वृत्तियाँ है उनको ज्ञात, अज्ञात वस्तु रूप विषय सहित मैं जानता हूँ । इसलिये यह कारण देह मैं नहीं और मेरा नहीं यह अज्ञान का है । मैं इसका जाननेवाला घट द्रष्टा की तरह इससे भी पृथक् हूँ । इस प्रकार मैं तीन देहों से पृथक्, तीनों देहों का द्रष्टा उनसे घट, पट द्रष्टा की तरह

पृथक् हूँ । समस्त धर्म स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर के हैं । उनके धर्म मुझ द्रष्टा को स्पर्श नहीं कर सकते ।

**प्रश्न ९५ - जाग्रत अवस्था का मैं साक्षी हूँ यह किस प्रकार जाना जाय ?**

**उत्तर** -चौदह त्रिपुटी का जहाँ स्पष्ट व्यवहार होता रहता है ऐसी अवस्था को जाग्रत अवस्था कहते हैं । त्रिपुटी नाम तीन का है । प्रत्येक इन्द्रिय की त्रिपुटी पूर्ण होने पर ही उस इन्द्रिय के विषय का बोध होता है । इन्द्रिय उसका विषय और इन्द्रिय का देवता तीनों को मिलने पर एक त्रिपुटी कहलाती है । वे त्रिपुटी इस प्रकार हैं -

इन्द्रिय (अध्यात्म) विषय (अधिभूत) देवता (अधिदेव)

(१) श्रोत -------शब्द ----------- दिशा (दिक्पाल)
(२) त्वचा ------स्पर्श ----------- वायु
(३) नेत्र --------रूप ------------ सूर्य
(४) जिह्वा ------रस ------------ वरुण
(५) घ्राण -------गंध ------------ अश्विनीकुमार
(६) वाक् -------बोलना --------- अग्नि
(७) पाणि ------आदान-प्रदान ----- इन्द्र
(८) पाद -------गमनागमन ------- बामनजी (उपेन्द्र)
(९) उपस्थ------मुत्र/मैथुन ------- प्रजापति
(१०) गुदा -------मलत्याग -------- यम
(११) मन--------संकल्प-विकल्प --- चन्द्रमा
(१२) बुद्धि-------निश्चय --------- ब्रह्मा
(१३) चित्त -------चिन्तन ---------- विष्णु (वासुदेव)
(१४) अहंकार ----अभिमान -------- शंकर (रूद्र)

इस प्रकार तीन-तीन तत्त्वों की एक-एक त्रिपुटी है । उसमें से किसी एक के अभाव में उसका कार्य नहीं हो सकेगा ।

जैसे चक्षु इन्द्रिय उसका देवता सूर्य हो और उसका विषय देखने योग्य पदार्थ न हो तो भी व्यवहार नहीं होगा । देवता सूर्य हो, रूप विषय भी हो किन्तु चक्षु न हो तो भी व्यवहार सिद्धि नहीं होगी । विषय रूप तथा इन्द्रिय चक्षु हो और देवता सूर्य न हो तो भी वस्तु का दर्शन रूप क्रिया नहीं होगी । इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध में है ।

उपरोक्त चौदह त्रिपुटी पूर्ण होती है तथा जब अपूर्ण रहती है अर्थात् त्रिपुटी व्यवहार पूर्ण होने को तथा त्रिपुटी व्यवहार अपूर्ण रहने की अवस्था को भी मैं साक्षी जानता हूँ । यह जाग्रत अवस्था रहती है तब तथा स्वप्न व सुषुप्ति में नहीं रहती है उसको भी मैं जानता हूँ । इस प्रकार यह जाग्रत अवस्था नेत्र स्थान मुख्यता से जीव का है तथा उस जाग्रत अभिमानी का नाम विश्व है । जिसकी वाणी वैखरी है, स्थूल भोग है, क्रिया शक्ति है तथा रजोगुण है । इस वास्ते जाग्रत अवस्था मैं नहीं और मेरी नहीं यह स्थूल देह की है । मैं इनका जाननेवाला साक्षी घट द्रष्टा की तरह पृथक् हूँ । इस प्रकार जाग्रत अवस्था का मैं साक्षी हूँ ।

## प्रश्न ९६- स्वप्न अवस्था का साक्षी मैं कैसे हूँ ?

**उत्तर** -जाग्रत अवस्था के देखे, सुने भोगे पदार्थों के सूक्ष्म संस्कार का तथा पूर्व जन्म के संस्कार का जहाँ धुन्धला सा क्रम रहित भान होता है उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं । बाल से बहुत ही सूक्ष्म बारीक हितानाम की नाड़ी में जिसका स्थान कंठ है उसमें सब संस्कार रहते हैं तथा समय पाकर बिना बिचारे अचानक स्वप्न में प्रतीत होते हैं । जाग्रत की तरह वहाँ नियमित निश्चित व्यवहार नहीं होता ।

स्वप्नावस्था का अभिमानी जीव तैजस संज्ञा को प्राप्त होता है । उसकी मध्यमा वाणी, कंठ स्थान, सूक्ष्म भोग, ज्ञान शक्ति, सत्वगुण होता है ।

उपरोक्त अवस्था स्वप्नावस्था कहलाती है और मैं इस स्वप्न अवस्था के होने को जानता हूँ तथा जाग्रत व सुषुप्ति में उसके अभाव को

भी जानता हूँ । इस वास्ते यह स्वप्न अवस्था मैं नहीं और यह मेरी नहीं यह सूक्ष्म देह की है । मैं तो इसका जाननेवाला साक्षी, घट साक्षी की तरह इस अवस्था से पृथक् हूँ ।

**प्रश्न ९७ - सुषुप्ति अवस्था का मैं साक्षी कैसे हूँ ?**

**उत्तर-** पुरुष जब निद्रा से जाग्रत होता है तब सुषुप्ति में अनुभव किये हुए सुख और अज्ञान का स्मरण करके अपने इष्ट मित्रों से कहता है कि आज मैं सुख से सोया था और मुझे कुछ भी पता न चला । यह सुख और अज्ञान का प्रकाश साक्षी चेतन रूप अनुभव से जिस अवस्था में होता है उस बुद्धि की विलीन अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं ।

इसमें अभिमानी जीव प्राज्ञ संज्ञा को प्राप्त होता है । हृदय उसका स्थान है, पश्यन्ति वाणी है, आनन्द भोग है, द्रव्य शक्ति है और तमोगुण होता है । इस सुषुप्ति अवस्था के होने को तथा जाग्रत व स्वप्न में इस अवस्था के अभाव को मैं जानता हूँ । यह सुषुप्ति अवस्था में नहीं, मेरी नहीं यह तो कारण देह की है । मैं इसका जानने वाला घट साक्षी की तरह इससे पृथक् हूँ ।

**प्रश्न ९८- पंच कोश कौन से हैं तथा वे किस शरीर के अन्तर्गत हैं ?**

**उत्तर -** श्रुतियों में ब्रह्म का स्थान ''निहितं गुहायां'' अर्थात् वह ब्रह्म सबके हृदय रूपी मन्दिर में छिपा है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये पंचकोश कहलाते हैं । अन्नमय कोश से आंतर (भीतर) प्राणमय कोश से आंतर मन और मनोमय से आतंर विज्ञान तथा विज्ञानमय कोश से आंतर आनन्दमय कोश है । इसी अन्नमय कोश से आनन्दमय कोशों तक की परम्परा को गुहा भी कहते हैं अर्थात् वह गुहा अपनी-अपनी एकता के द्वारा ब्रह्म को छिपा लेती है । अन्नमय कोश-स्थूल शरीर के अन्तर्गत है । प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं । आनन्दमय कोश कारण शरीर के अन्तर्गत है ।

**प्रश्न ९९-अन्नमय कोश किसे कहते हैं और वह आत्मा क्यों नहीं है ?**

**उत्तर -** माता-पिता के खाये हुए अन्न के द्वारा पैदा हुए रज-वीर्य से उत्पन्न देह दूधादि अन्न से ही पुष्ट होता है । तथा मरण होने पर अन्नमय पृथ्वी में ही मिल जाता है । इस प्रकार यह देह अन्न का विकार है । यह आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि जन्म से पूर्व तथा मरण के पश्चात् इस देह का अभाव है । देह पचंभूतों का कार्य होने से विकारी है । मैं आत्मा निर्विकार हूँ मेरा कोई कारण नहीं है तथा मैं देह के पूर्व, मध्य तथा अन्त में भी समान सत्ता वाला हूँ ।

अन्न से उत्पन्न, अन्न से पोषित तथा अन्न रूप पृथ्वी में मिल जाने से इसे अन्नमय कोश कहते हैं । इस वास्ते यह अन्नमय कोश मैं नहीं, यह मेरा नहीं, यह स्थूल देह का है ।मैं इसका जानने वला साक्षी आत्मा अन्नमय कोश से पृथक् हूँ ।

**प्रश्न १०० - प्राणमय कोश किसे कहते हैं तथा वह आत्मा क्यों नहीं हैं ?**

**उत्तर -** जो वायु शरीर से बाहर सर्वत्र तथा देह में पाद से मस्तक पर्यन्त व्याप्त है और व्यान रूप से सारे शरीर के अंगों को बल देता, चक्षु आदि इन्द्रियों का उनके-उनके विषय में प्रेरक वह प्राणमय कोश रूप वायु चैतन्य से रहति होने से आत्मा नहीं है । प्राण जड़ है, अभ्यास से वश में होने वाला है । यह मेहनत, दौड़, मैथुन आदि में तेज वेगवान हो जाता है । इस प्रकार विकारी, चंचल, जड़ है एवं वायु का कार्य है ।

पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच प्राण मिलकर प्राणमय कोश कहलाता है। मैं चैतन्य रूप आत्मा इसको जानने वाला इस प्राणमय कोश से पृथक् हूँ ।

**प्रश्न १०१ - मनोमय कोश आत्मा क्यों नहीं है ?**

**उत्तर -** देह में अहंता (देह मैं हूँ ) बुद्धि को और स्त्री, पुत्र, धनादि में ममता (मेरे हैं) बुद्धि को जो करता है वह मनोमय कोश पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक मन वाला है ।

यह मनोमय कोश रूप मन आत्मा नहीं हैं क्योंकि यह मन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वृत्तियों के कारण चंचल स्वभाव वाला है अर्थात् सदा एकरस नहीं रहता । और मैं सर्व वृत्तियों का साक्षी निर्विकार हूँ इस वास्ते मनोमय कोश मैं नहीं हूँ और वह मेरा नहीं है, यह सूक्ष्म देह रूप है । मैं इसका जाननेवाला आत्मा इससे पृथक हूँ ।

## प्रश्न १०२ - विज्ञानमय कोश आत्मा क्यों नहीं है ?

**उत्तर -** यह कर्तारूप विज्ञानमय कोश पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि सहित को कहते हैं । जो चैतन्य की छाया से (आभास) युक्त अर्थात् चिदाभास सहित बुद्धि है वह शयन के समय, कारण अज्ञान में लीन हो जाती है तथा जाग्रत अवस्था में नख से शिख तक सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है । वह विज्ञानमय कोश रूप बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि घटादि की तरह विलय-उत्पन्न होने वाली होने से परिच्छिन्न एवं विनाशी है । और मैं उत्पन्न-विलय धर्म से रहित इसका साक्षी चैतन्य आत्मा इससे पृथक् हूँ । इस प्रकार यह विज्ञानमय कोश आत्मा नहीं है ।

विज्ञानमय कोश अन्तः तथा मनोमय कोश बहिर्गामी होने से दो कोश माने जाते हैं । विज्ञान कर्तारूप है और मन कारण रूप है ।

## प्रश्न १०३ -आनन्दमय कोश आत्मा है या नहीं, क्योंकि इससे पृथक् तो कुछ अनुभव में नहीं आता है ?

**उत्तर -** जब पुण्य कर्म के फलस्वरूप भोगकाल में बुद्धि वृत्ति अन्तर्मुख होकर आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त करती है अर्थात् उस वृत्ति में आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है और वही वृत्ति सूक्ष्म पुण्यकर्म फल भोग के समय में निद्रारूप से लीन हो जाती है उस वृत्ति को आनन्दमय कोश कहते हैं ।

यह आनन्दमय कोश बादलों की तरह कभी कभी रहने वाला होने से आत्मा नहीं है । यह बात तो ठीक है कि इससे पृथक् और कोई पदार्थ प्रत्यक्ष रूप नहीं दिखता । किन्तु इन पदार्थों के अलावा याने इन कोशों के

अलावा ''और कोई है नहीं'' ऐसा जो अनुभव है अथवा जिस अनुभव से ये पाँचों कोशों को जाना है वह अनुभव ही आनन्दमय कोश से पृथक् चैतन्य आत्मा है।

बुद्धि में प्रतिबिम्ब रूप से स्थित आनन्द का जो बिम्ब रूप स्वरूप आनन्द है वही आत्मा है और वह नित्य आत्मा मैं हूँ । यह आनन्दमय कोश कारण शरीर रूप है । मैं इसका जानने वाला इससे भिन्न हूँ । आनन्दमय आदिक कोशों के साक्षी को स्वयं अनुभव रूप होने से उसका ज्ञाता अन्य कोई नहीं है याने अनुभाव्यता की जरूरत नहीं है । क्योंकि साक्षी आत्मा स्वयं प्रकाश रूप है । यदि कहो कि अनुभव रूप भी उसको ज्ञान का विषय क्यों नहीं मानते तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि वह अनुभव आत्मा अपने से अन्य ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से ज्ञान का विषय नहीं होता । भावार्थ यह है कि उसको स्वयं अनुभव रूप होने से ज्ञेय रूपता नहीं है। अस्तु, आत्मा ज्ञान रूप, अनुभव रूप है ।

जैसे गुड़ आदि मधुर पदार्थों में अन्य कोई दूसरे पदार्थ की मधुरता हेतु अपेक्षा नहीं रहती कि हममें कोई माधुर्यता को अर्पण करे । क्योंकि गुड़ का स्वभाविक माधुर्य स्वभाव है तथा जगत् में कोई अन्य पदार्थ नहीं जो गुड़ को मधूरता अर्पण करे । वैसे ही आत्मा भी ज्ञान का विषय है, परन्तु ज्ञान रूप आत्मा को कौन हटा सकता है अर्थात् आत्मा अनुभव रूप है । यह आत्मा स्वयंज्योति है । इस सम्पूर्ण जगत् से पहले प्रकाशित होता है और उसका प्रकाश होने पर उसीके प्रकाश से इस जगत् का प्रकाश होता है ।

**प्रश्न १०४ - यह आत्मा को अन्य इन्द्रियों की विषयता क्यों नहीं है। अर्थात् आत्मा को कोई इन्द्रिय द्वारा क्यों नहीं जान सकते ?**

**उत्तर -** **श्रुतियाँ आत्मा को स्वयं प्रकाश कहती है -**

**येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्**
**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** - बृह. उपनिषद

जिससे इन सब दृश्यमान जगत् को जानते हैं उसे अब किससे जाने अरे गार्गी ! विज्ञाता को किससे जाने ?

अर्थात् जिस चैतन्य रूप साक्षी आत्मा से सम्पूर्ण प्राणी इस जगत् को जानते हैं उस साक्षी आत्मा को किससे जानें ? अर्थात् कोई नहीं जान सकते। यदि कहो कि मन, बुद्धि से जान सकते हैं तो उसके लिये भी श्रुति कहती है कि -

'यद्वाचाऽनभ्युदिंत', 'यन्मनसा न मनुते', 'यच्चक्षुषा न पश्यति' 'नैव मनसा न वाचा इति' 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' ।

ज्ञान का साधन जो मन है वह ज्ञेय (जानने योग्य) विषय में तो समर्थ है किन्तु ज्ञाता रूप आत्मा को जानने में समर्थ नहीं है । क्योंकि मन, वाणी से आत्मा नहीं जाना जा सकता यह उपरोक्त श्रुति बताती है। अर्थात् सब के जानने वाले ज्ञाता रूप आत्मा को मन, वाणी, बुद्धि नहीं जान सकते जो आत्मा के निकट के साधन हैं तब फिर अन्य इन्द्रियाँ तो जान ही कैसे सकती हैं, जो मन, बुद्धि से भी दूर है ?

अत: यह आत्मा स्वयं प्रकाश होने में निम्न श्रुति प्रमाण रूप हैं -

**स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता**

इन श्रुतियों से ज्ञात होता है कि यह आत्मा को कोई भी नहीं जान सकता लेकिन वह सबको जानता है। इस आत्मा का ज्ञाता आत्मा से अन्य कोई नहीं है और वह ज्ञान रूप ब्रह्म विदित ज्ञान का विषय और अविदित (अज्ञान से युक्त जो कि मैं नहीं जानता या अन्धकार में मुझे कुछ नहीं दिखाई पड़ता इस रूप से अविदित) को भी जानने वाला इन दोनों से पृथक् (विलक्षण) बोध रूप है । भावार्थ यह है कि यह आत्मा सम्पूर्ण वेद्य (जानने योग्य) को जानता है । उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है, इसीसे ज्ञात और अज्ञात से विलक्षण आत्मा बोध रूप है ।

जो इस प्रत्यक्ष बोध रूप ब्रह्म को नहीं मानता, नहीं जानता व साधन करके आगे जानने की अभिलाषा करता है उसकी बुद्धि तो हँसने योग्य ही है । क्योंकि जिस मंद पुरुष को घट आदि का स्मरण रूप बोध होते हुए भी कहे कि मुझे तो किसी प्रकार का अनुभव (साक्षात्कार) नहीं होता कि बोध रूप आत्मा कैसा होता है ? मैं नहीं जानता वह तो मनुष्याकार में मिट्टी का ढेला अर्थात् जड़ है उसके शास्त्र बोध कैसे करा सकेगा । अर्थात् ऐसे मलिन अतःकरण वाले को ज्ञान होना असम्भव ही है । जो घट, पट स्मरण रूप बोध के होने पर भी कहता है कि मैं बोध को कैसे अनुभव करूँ ? किन्तु उस मूर्ख को जब ज्ञात हो जायगा कि विदित (बोध का विषय में जो विशेषण वेदन (जानना) है उसीको ही बोध कहते हैं । बिना बोध के तो कोई भी लौकिक क्रिया याने सांसारिक व्यवहार भी नहीं हो सकता ।

''बोध नहीं जाना जाता'' इसमें तो व्याघात दोष की आपत्ति खड़ी हो जाती है । जैसे कोई कहे कि मेरे मुख में जीभ है कि नहीं यह वचन केवल लज्जा के ही लिये होगा । बुद्धिमता का वचन नहीं होगा । क्योंकि जिह्वा के बिना भाषण हो ही नहीं सकता । इसी प्रकार मैं बोध को नहीं जानता अब साधन करके जानूँगा यह कहना भी लज्जा का ही हेतु है । क्योंकि बोध के बिना ''मैं बोध को नहीं जानता'' ऐसा कथन याने नहीं जानने का भी बोध कैसे होता ? अत: ऐसे नहीं जानना कथन भी बोध की ही सिद्धि करता है । क्योंकि बोध के बिना यह व्यवहार भी नहीं होगा।

जगत् के अन्दर जिस जिस घट - पटादि वस्तु पदार्थ रूप में बोध (ज्ञान) है उस-उस घट -पटादि विषय के चक्षु से ओझल हो जाने पर भी जो स्मरण रूप बोध स्फूरता है वही व्यापक ब्रह्म है । इस निश्चयात्मक बुद्धि को ही ब्रह्म कहते हैं ।

और कोई ब्रह्म पदार्थ पृथक् से नहीं जिसे इन्द्रिय का विषय (साधन) बनाया जा सके ।

**प्रश्न १०५ - यदि घटादि विषय की उपेक्षा करने पर जो अनुभव शेष रह जाता है याने उस-उस विषय के अर्थ का ज्ञान रूप ब्रह्म जान ले तो पंचकोश विवेक करना वृथा होगा ?**

**उत्तर** - ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म को प्रत्यक् (आत्म) रूपता के ज्ञान बिना संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती और पंचकोश विवेक भी प्रत्यक् रूप ज्ञान का हेतु है, इससे व्यर्थ नहीं है । बल्कि अन्नमय आदि पंचकोशों के परित्याग अर्थात् बुद्धि से अनात्मा के निश्चय होने पर उनका साक्षी रूप बोध ही शेष रहता है । वह साक्षी रूप बोध अपना स्वरूप ब्रह्म ही है । चाहे ब्रह्म को मत मानों परन्तु अपने स्वरूप को तो स्वीकार करो वही 'स्व' ब्रह्म है ।

**प्रश्न १०६ - ब्रह्म कैसा है ?**

**उत्तर** - ब्रह्म में इदृकृता (ऐसा) तथा तादृश (वैसा) रूप नहीं है । क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियों के विषय जो घट आदि हैं वे ही इदृक् शब्द के अर्थ होते हैं । इन्द्रियों के परोक्ष (स्वर्ग, धर्मादि) को तादृक् कहते हैं और सबका द्रष्टा आत्मा इन्द्रियों के ज्ञान का अविषय होने से इदृक् नहीं है और स्व (अपना) रूप होने से परोक्ष भी नहीं है । इससे तादृक् नहीं है।

आत्मा अवेद्य होने से अपरोक्ष है अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान का अविषय होने पर भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप है । इससे यह आत्मा स्वप्रकाश रूप है । ज्ञान का विषय नहीं किन्तु स्वयं ज्ञान है और ज्ञान की अन्य ज्ञान का विषय कहने से अनवस्था दोष हो जाता है ।

एक के कर्ता को दूसरे की अपेक्षा व दूसरे के कर्ता को तीसरे की अपेक्षा व तीसरे के कर्ता को चौथी की अपेक्षा इस प्रकार कारण की परम्परा के प्रवाह चलने को अनवस्था दोष कहते हैं न्याय मतानुसार । अतः ब्रह्म ऐसा है, वैसा है इस प्रकार के वचन का विषय नहीं है ।

**प्रश्न १०७ - वेद में ब्रह्म का स्वरूप नेति -नेति रूप से प्रतिपादन करने का क्या अर्थ है ?**

**उत्तर -** 'न इति' 'न इति' का अर्थ है वह ब्रह्म इदं (यह) रूप से इन्द्रिय का विषय नहीं है । जैसे घट आदि स्थूल मूर्त पदार्थों को घर से बाहर निकालने पर, ले जाने अयोग्य एक आकाश ही शेष रहता है । इसी प्रकार आत्मा से भिन्न देह, इन्द्रिय आदि जो निषेध करने योग्य हैं उनका जब नेति-नेति श्रुति से निराकारण कर दिया तब अन्त में जो सबके निषेध का साक्षी बोध रूप आत्मा शेष रहता है वही बाध रहित आत्मा है ।

यदि कहे कि नेति - नेति से सबका बाध हो जायगा तो कैसे कहते हो कि शेष जो रहे वह आत्मा है ? तो उत्तर यह है कि कुछ शेष न रहेगा ऐसा कहने वाले को भी सबके अभाव का साक्षी अवश्य मानना पड़ेगा । इससे ज्ञान रूप साक्षी ही वेदान्त मत से आत्मा है । क्योंकि ज्ञान के बिना ''कुछ शेष न रहेगा'' ऐसा कथन भी सम्भव न होगा । बाध का साक्षी तो अवश्य स्वीकार करने योग्य है ।

साक्षी चेतन के अबाध्य होने से (स एवं नेति नेत्यात्मा) वही नेति-नेति श्रुति बाह्य वस्तु का निषेध करके अर्थात् आत्मा से भिन्न वस्तु के निराकरण करने से इसी निषेध करने के अयोग्य प्रत्यक् स्वरूप ब्रह्म को शेष रखती है अर्थात् नेति नेति से जो शेष रहे वही आत्मा है ।

''यह रूप है'' इस प्रकार दृश्य रूप से दिखता सम्पूर्ण जगत् की तरह आत्मा इस इदं रूप से जानने के अयोग्य साक्षी रूप है वह त्यागने को अशक्य है । भावार्थ यह है कि जितना इदं रूप जगत् है उस सबका त्याग निषेध हो सकता है और जो अनइदं रूप है याने जो यह रूप नहीं है उसका त्याग नहीं हो सकता । इससे यह आत्मा प्रपंच से रहित नेति-नेति विशेषण द्वारा शुद्ध साक्षी स्वरूप का बोधक है ।

**प्रश्न १०८ - पंचकोश का विवेक न करने से क्या हानि है ?**

**उत्तर** - अनेक मन्द बुद्धि वाले वेदान्त वाक्यों में विश्वास न रखने वाले, आत्मा को बाहर दुंढने वाले पंचकोश जो अनात्म पादर्थ हैं उनमें से किसी अन्न, प्राण, मन, विज्ञान या आनन्दमय कोश को आत्मा मानकर मुख्य साक्षी आत्म स्वरूप को जानने से वंचित रह जाते हैं । क्योंकि अन्नमयादि पंचकोशों के आन्तर (भीतर) आत्मा है ओर आत्मा को आच्छादन करने के कारण ही इनको कोश कहते हैं । जैसे जीव के पंचकोश जीव के यथार्थ स्वरूप साक्षी को ढकते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के समष्टि पंचकोश ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को जीव की दृष्टि से ढके रहते हैं । क्योंकि ईश्वर का यथार्थ स्वरूप तो तत् पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध चेतन ब्रह्म है किन्तु जीव तत् पद के वाच्य माया उपाधि वाले अन्तर्यामी सर्वज्ञातादि धर्म को परम तत्त्व को मान बैठता है ।

अतः जीव को अपने पंचकोश विवेक से अपने प्रत्यक् आत्मा को भिन्न जान लेना कर्तव्य है । उसी प्रकार समष्टि पंचकोश से ब्रह्म को भी भिन्न जान लेना कर्तव्य है । ईश्वर को तो आवरण नहीं होने से वह नित्यमुक्त है। उसको तो कोई कर्तव्य नहीं किन्तु जीव की दृष्टि से ईश्वर को ढकने वाले हैं ।

कोई हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, विष्णु, शिव, गणेश, देवी, सूर्य इत्यादि से लेकर तलवार, कोदाली, पीपल, उखड़ा, झाड़, मूसला, बांस, गघेड़ा, कुत्ता, सांप, चूहादि पर्यन्त पदार्थों तथा गोबर, जल, पत्थर, चित्र आदि में परमात्मा मानते हैं ।

कोई मायामय आनन्दमय कोश विशिष्ट जो अर्न्तयामी ईश्वर तत् पद का वाच्य है उसी को परमतत्त्व मान वैठते हैं ।

वैसे तो सभी पदार्थों का लक्ष्य भाग परमात्मा ही है किन्तु उपाधि सहित जो जिसको परमात्मा मानता है वह उनकी भ्रान्ति है । इस प्रकार पंचकोश से ढका हुआ जो जीव है और जो वास्तविक ब्रह्म का स्वरूप

ही है उससे विमुख होकर जीव देह में आत्म-भ्रान्ति करके एवं प्रकृति के कर्मों में मिथ्या कर्तृत्व अभिमान करके पुण्य-पाप के जाल में फँसता है।

अन्तर्यामी से लेकर गोबर, बांस, कागज, पत्थर, जल पर्यन्त के पदार्थों को ईश्वर रूप मानकर उनकी आराधना करके सुख की इच्छा रखकर जिस उपाधिवाले की उपासना करता है उसके अनुसार उसे वह नाशवान् क्षणिक फल मिलता है । किन्तु ब्रह्मज्ञान बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता । इस बात का वेद डिंडिभ रूप से घोषणा इस श्रुति मंत्र से कर रही है । -

**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।**
**तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।**

**- श्वे० उप० ६/२०**

भले ही कोई आकाश को चमड़े की तरह लपेट ले, किन्तु बिना आत्मज्ञान के दुःख से नहीं छूट सकता । उपरोक्त श्रुति में व्यंगरूप से बात कही है कि हाँ बिना आत्मज्ञान के जीव दुःखों से मुक्त हो सकेगा किन्तु कब ? जब आकाश को चमड़े की तरह लपेट ले । भावार्थ यही कि न आकाश लपेटा जायगा और न बिना आत्मज्ञान हुए दुःखों से छुटकारा हो सकेगा ।

**प्रश्न - १०९ - ईश्वर के पंचकोश कौनसे हैं ?**

**उत्तर -** १) समष्टि अज्ञान रूप माया ईश्वर का कारण शरीर है । इस वास्ते वह ईश्वर का आनन्दमय कोश है ।

(२) समष्टि जीवों के सूक्ष्म शरीर ही ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है जिसको हिरण्यगर्भ अभिमानी कहा जाता है । उसमें विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय तीन कोश हैं ।

दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरूण, अश्विनी कुमार ये पांच ईश्वर की ज्ञान इन्द्रिय हैं और समष्टि बुद्धिमय महत्त्व रूप अथवा सर्व बुद्धियों के अभिमानी ब्रह्म रूप ईश्वर की बुद्धि मिलकर ईश्वर का विज्ञानमय कोश

कहलाता है । ईश्वर की पांच उपरोक्त ज्ञानेन्द्रिय तथा समष्टि मन रूप अहंभाव अथवा सर्व के मन के अभिमानी चन्द्रमा ईश्वर का मन मिलाकर ईश्वर का मनोमय कोश है । अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और मृत्यु ये पांच ईश्वर की कर्म इन्द्रिय हैं । वाक्, पाणि, पादादि ये कर्म इन्द्रिय तथा समष्टि प्राण अथवा वायु का अभिमानी देवता रूप ईश्वर का प्राण मिलकर ईश्वर का प्राणमय कोश है ।

(३) समष्टि स्थूल सृष्टि रूप विराट् ईश्वर का स्थूल शरीर है । वह ईश्वर का अन्नमय कोश है । यह पंचकोश ईश्वर के वाच्य भाग में हैं किन्तु इन कोशों से रहित ईश्वर का लक्ष्य भाग है जो निर्विकार, निष्क्रिय, असंग, शुद्ध है ।

जैसे मुंज नाम के घास के बीच की सली के ऊपर एक के पीछे एक ऐसी अनेक रेशे चिपके हुए होते हैं । उन सबको उखाड़ कर अलग करने पर बीच की सली पृथक् करने में आती है । उसी प्रकार जीव तथा ईश्वर के स्वरूप को भी पांचकोश से भिन्न जानना चाहिये ।

**प्रशन ११०- जीव तीन अवस्थाओं से पृथक् है यह कैसे जानें ?**

**उत्तर -** (१) जाग्रत अवस्था में स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था नहीं रहती है किन्तु मैं विद्यमान रहता हूँ और जानता रहता हूँ।

(२) स्वप्न अवस्था में स्थूल देह एवं जाग्रत अवस्था का भान नहीं होता, किन्तु सूक्ष्म देह का भान होता है । इन दोनों अवस्थाओं के भावाभाव को मैं जानता हूँ।

(३) उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं होता है किन्तु सुख स्वरूप मैं आत्मा स्वयं प्रकाश रूप रहता हूँ। क्योंकि वहाँ बिना विषय के 'मैं सुख से सोया'' रूप सबको अनुभव सिद्ध ही है । अतः वह मुझ आत्मा का ही सुख है ।

निदिध्यासन का फल जो निर्विकल्प समाधि अवस्था उसमें अज्ञानकृत आवरण रहित आत्मा प्रतीत होता है । क्योंकि सुषुप्ति में तो

"मुझे कुछ पता नहीं चला" इस प्रकार अज्ञान बना रहता है । किन्तु समाधि में कारण शरीर रूप अज्ञान भी भासित नहीं होता ।

इस प्रकार तीन देह, तीन अवस्था का परस्पर व्यभिचार है याने एक दूसरे अवस्था में नहीं होते हैं । किन्तु अपनी मैं, आत्मा समस्त अवस्थाओं में साक्षी रूप से अनुगत है याने व्यापक है । इस प्रकार विवेक करके तीनों शरीर तथा तीनों अवस्था व पंचकोश से आत्मा को पृथक् समझ कर 'वह आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ' इसी बोध का नाम ब्रह्म साक्षात्कार, वेद अर्थ को भली प्रकार जानने वाले ज्ञानी जन कहते हैं । किन्तु इस प्रकार केवल पंचकोश से आत्मा को ही पृथक् जान लेने मात्र से कृत - कृत्यता नहीं आती । जब तक कि महावाक्यों के श्रवण द्वारा जीव ब्रह्म की एकता का दृढ़ निश्चय न कर ले ।

**प्रश्न १११ - जीव के बन्धन का हेतु ईश्वर कृत सृष्टि है या जीव कृत सृष्टि ?**

**उत्तर -** मनोमय सृष्टि ही बन्धन का कारण है । ईश्वर कृत सृष्टि जीव की साधक है, बाधक नहीं है । दुःख का कारण ईश्वर कृत सृष्टि नहीं किन्तु मनोमय सृष्टि है । क्योंकि इस जीव के रचे मानस प्रपंच के विद्यमान होने से ही सुख-दुःख होते हैं । और स्व-रचित मानस प्रपंच न होने पर सुख-दुःख दोनों नहीं होते ।

जैसे दूर देश में गया हुआ पुत्र वहाँ जीवित होने पर भी किसी मिथ्यावादी ने आकर उसके पिता से कह दिया कि 'तुम्हारा पुत्र मर गया' । इस मिथ्या वचन से अपने पुत्र को मरा मानकर दुःख मनाता है । अर्थात् पिता के मन में स्थित पुत्र की ममता को धक्का लगा एवं रोने लगा किन्तु ईश्वर कृत पुत्र बाहर अभी जीवित ही है । और सत्य रूप में भी उस पुत्र के मरने की खबर जब तक उसका पिता नहीं सुनता है तब तक तनिक भी दुःख नहीं करता । न रोता है बल्कि बहुत उमंग - उत्साह से लड़के की इन्तजार करता रहता है । इस प्रकार ईश्वर कृत सृष्टि बन्धन का कारण नहीं है लेकिन जीव कृत सृष्टि ही बन्धन का

कारण है । ईश्वर ने तो एक हाड़, माँस की स्त्री बनायी किन्तु जीव ने उसमें मेरी माँ, मेरी बहन, मेरी लड़की, मेरी पत्नी इस प्रकार की ममता की सृष्टि बना ली अन्यथा स्त्री-स्त्री सब एक ही तत्त्व है । इसलिए अपनी मानी हुई स्त्री सम्बन्ध में ही उसके मिलन - वियोग में सुख व दु:ख होता है । अन्य के आने -जाने में उसे कुछ दु:ख - सुख नहीं होता।

जब कोई पिता अपनी संतान के लिये विषाक्त वस्तु जीवन नाशक खिलौना न बनाता न लाता है, तब परमदयालु परम पिता अपनी जीव रूप सन्तान हेतु बन्धन या दु:ख रूप सृष्टि कैसे बना सकता है ?

**प्रश्न ११२- जब मन ही बन्धन का हेतु है तो उसे निरोध रूप योग ही से शान्ति हो जायगी ? ब्रह्मज्ञान से क्या लाभ होगा क्योंकि द्वैत की निवृत्ति ही तो प्रयोजन है ?**

**उत्तर** - हाँ, यह बात सत्य है कि बन्ध का भान मन में ही है और योग से द्वैत की शान्ति तत्कालिक हो भी जाती है किन्तु उसमें एक दोष रह जाता है । वह यह कि योग में दूसरी बार पुन: द्वैत उत्पन्न न हो ऐसी सामर्थ्य नहीं है । क्योंकि भविष्यकाल में द्वैत की उत्पत्ति का नाश ब्रह्म ज्ञान के बिना नहीं हो सकता । जैसे किसी वृक्ष को सुखाने हेतु डाल पत्ते काट देने से तत्काल तो वह वृक्ष सुख सा जाता है किन्तु पुन: अधिक कोपलें, नूतन टहनिया, बड़ी तेजी से फूट निकलती हैं । यह है योग द्वारा मन को शान्त करने का उपाय और यदि उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ दे तो वह भविष्य काल में पुन: उत्पन्न ही नहीं हो सकता है । यह है ज्ञान मार्ग का उपाय। अत: यह वेदान्त का डिंडिभ (घोष, ढिंढोरा) है क्योंकि ये श्रुति -

**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशंर्ज्ञात्वा शिवं शांतिमत्यंतमेति ।**
**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा: ।**
**तदा देवमाविज्ञाय दु:खस्यान्तो भविष्यति ।।**
**''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'', ''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'' (वेद)**

- श्वे०उप० ६/२०

श्रुति ब्रह्मज्ञान से ही बन्ध का नाश अन्वय - व्यतिरेक से कहती है कि - देव (आत्मा) को जानकर सब बन्धनों से जीव छूट जाता है । जीव सुख रूप ब्रह्म को जानकर ही अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है और यदि कोई कहे कि क्या बिना ब्रह्म ज्ञान के जीव मुक्त नहीं हो सकेगा तो उसे यहि कहना होगा कि जब चर्म के समान आकाश को मनुष्य लपेट लेगें तब आत्मा के बिना जाने दु:ख का अन्त हो जायगा । पर क्या आकाश को लपेटना सम्भव है ? कदापि नहीं । तब बिना आत्मज्ञान के दु:ख का सर्वथा नाश भी असम्भव ही है।

तात्पर्य यही है कि योग से तत्काल के द्वैत का नाश हो जाने पर भी भविष्य काल के द्वैत का नाश ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं हो सकता । और ऐसा हो नहीं सकता कि कोई जीव समाधि लगाये २४ घण्टे जड़ पाषाण की तरह बैठा रहे, क्योंकि उसका देह प्रारब्ध भोगने हेतु विविध कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुआ है । अस्तु, बिना ब्रह्मज्ञान के द्वैत की आत्यान्तिक निवृत्ति अन्य साधन से नहीं हो सकती ।

**प्रश्न ११३ - बाह्य द्वैत की निवृत्ति के बिना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकती और वह बाह्य द्वैत की निवृत्ति समाधि से होगी, ज्ञान से नहीं, ऐसा मानें तो ?**

**उत्तर -** ऐसा मानना मंदबुद्धि का ही कथन हो सकता है । प्रयोजन से प्रमाण की असिद्धि नहीं हो सकती । सारे वेद प्रमाण ब्रह्मज्ञान से ही दुःखों का सर्वथा नाश कहते हैं, योग रूप समाधि से नहीं । प्रमाण के अधीन वस्तु की सिद्धि है, प्रयोजन के आधीन नहीं । मान (प्रमाण) से सिद्ध हुआ पदार्थ कि ''यह घड़ा है'' प्रयोजन शून्य होने से कुछ असत् नहीं हो जाता । प्रमाण प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करता यह मर्यादा है । चाहे मानो या न मानो ब्रह्मज्ञान बिना पूर्ण अद्वैत तत्त्व का बोध नहीं होता । यदि बाह्य द्वैत के अभाव में ही ब्रह्मज्ञान होना माना जाय तो बिना प्रयत्न के सभी व्यक्ति को सुषुप्ति में बाह्य द्वैत का पूर्ण अभाव सिद्ध ही है । किन्तु आजतक किसी को उस अवस्था से ब्रह्मज्ञान होता तो देखा नही गया ।

अतः यह मानना मिथ्या होगा कि बाह्य द्वैत निवृत्ति पर ही ब्रह्मज्ञान होगा । क्योंकि प्रलय अवस्था में अद्वैत का विरोधी द्वैत का पूर्ण अभाव होने से सभी जीवों की मुक्ति हो जाना था परन्तु गुरु और वेद शास्त्रादि जो ज्ञान के साधन हैं उनका वहाँ अभाव होने से (याने बोध के अनुकूल समय न होने से) अद्वैत वस्तु को कोई नहीं जान सकता ।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर रचित द्वैत की निर्वृत्ति किये बिना भी उसको परमार्थ से मिथ्या रूप जानकर अद्वितीय ब्रह्म को जान सकता है। सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मज्ञान में द्वैत का मिथ्यात्व निश्चय हेतु है । पदार्थ की सर्वथा निर्वृत्ति प्रयोजन नहीं है । क्योंकि ईश्वर का रचा हुआ द्वैत अबाधक है याने विघ्न रूप नहीं है बल्कि ईश्वर रचित गुरु, शास्त्र रूपी द्वैत जिज्ञासु के लिये ज्ञान का साधक है । इससे अबाधक व साधक रूप ईश्वर रचित द्वैत से अकारण क्यों विरोध किया जाय, अर्थात् उसे बना रहने दो। तुम ब्रह्मज्ञान से उसे मन में ही बाध कर दो एवं प्रारब्धानुसार देह, इन्द्रियों का व्यवहार भी होने दो । हमारा प्रयोजन तो ब्रह्मज्ञान से है न कि ईश्वर रचित द्वैत से शत्रुता करनी है ।

**प्रश्न ११४ - वेदान्त विचार तत्त्वज्ञान की क्या सीमा है ?**

**उत्तर -** आत्म स्वरूप ब्रह्म का जो श्रवण आदि विचार है वह भी शास्त्रीय मानस जगत् है । तत्त्व ज्ञान होने पर श्रुति आज्ञा से वह भी त्यागने योग्य है-

**त्वमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।**
**नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनम्हि तदिति ॥**

बृह ० उप० ४। ४ । २१

बुद्धिमान ब्राह्मण को आचार्यों से ही जान कर उस जानने योग्य वस्तु में ही बुद्धि की स्थिति करे अर्थात् 'वह मैं हूँ' ऐसी ही प्रज्ञा करे । बहुत थोड़े से आत्म ब्रह्म के एकत्व बोध कराने वाले शब्दों का ही निरंतर चिंतन करे, किन्तु बहुत शब्दों, युक्तियों, प्रमाणों, परिभाषाओं का अनुध्यान (निरंतर चिन्तन) न करे । वह तो वाणी को थकाने मात्र का ही साधन है ।

यदि कहें कि शास्त्र में तो मरण पर्यन्त सत्संग, वेदान्त चिन्तन नहीं त्यागने को कहा है । तो उसका तात्पर्य शास्त्र पढ़ने का संकेत नहीं है अपितु काम, क्रोध आदि वृत्तियों को अवसर न देने का संकेत है । क्योंकि आत्मज्ञानी के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं, ऐसा भगवान् श्री कृष्ण गीता श्रुति में कहते हैं -

**''तस्य कार्यं न विद्यते''** - गीता ३ । १७

अतः जो संकेत श्रुति का है वह अद्वैत अवस्था में भी शास्त्र का चिन्तन करे ऐसा नहीं। किन्तु बुद्धिमान मनुष्य शास्त्रों को पढ़कर और बारम्बार उसका अभ्यास करके ब्रह्मज्ञान के बाद उनको उल्का के समान त्याग दे । ज्ञान-विज्ञान में तत्पर बुद्धिमान मनुष्य उन सब ग्रन्थों को इस प्रकार त्याग दे कि जैसे धान्य का अर्थी पुआल (घास) को त्याग देता है। या मक्खन का इच्छुक छाछ का त्याग कर देता है या यात्री धर्म-शाला का परित्याग कर देता है । अतः धीर ब्राह्मण उस ब्रह्म को अहम् रूप से एकत्व जानकर उसी में बुद्धि को स्थिर करे अर्थात् शिवोऽहम् भाव बुद्धि को स्थिर करे ।

तात्पर्य यह है कि पांच कोश से आत्मा भिन्न है । ऐसा जानकर उसको ब्रह्म रूप ही जानना चाहिये । और अपने आत्म स्वरूप से जो कुछ भी भिन्न प्रतीत देखने या सुनने में आवे उसे मिथ्या एवं भ्रान्ति है ऐसा समझो । अधिष्ठान में मिथ्या वस्तु का प्रतीति होने पर भी वह अधिष्ठान कुछ बिगाड़ नहीं सकता । जैसे रस्सी रूप अधिष्ठान में सर्प की प्रतीति या मरुस्थल में जल की प्रतीति विषाक्त एवं गीली भूमि नहीं कर सकता । ब्रह्मचारी के स्वप्न में १२ बच्चे होने पर भी उसको जाग्रत में कोई कलंक प्राप्त नहीं होता व राजा स्वप्न में भिखारी होने पर भी उसके राज्य की हानि नहीं होती ।

अतः ज्ञानी सब कुछ करता हुआ भी स्वरूप में तनिक भी शुभ - अशुभ क्रियाओं का कर्ता नहीं है । करते हुए भी अकर्ता ही है याने

परमार्थ से कुछ नहीं करता । आत्मा नित्य, शुद्ध, मुक्त है । क्योंकि शुभ - अशुभ, पुण्य पाप, स्वर्ग-नर्क, बन्ध-मोक्ष सब व्यवहार अविद्या कल्पित ही है । और कल्पित अवस्तु अविद्या अधिष्ठान वस्तु ब्रह्म का कुछ बिगाड़ नहीं सकती ।

गीता श्रुति कहती है कि -

**यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।**

- गीता ८ । १७

भावार्थ यह है कि जिस पुरुष के अन्तःकरण में ''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा भाव नहीं तथा जिसकी बुद्धि सांसरिक पदार्थों में और सम्पूर्ण कर्मों में लिपायमान नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है । क्योंकि बिना कर्तृत्व - अभिमान के किया हुआ कर्म वास्तव में अकर्म रूप ही होता है । इसलिये वह पुरुष पाप से नहीं बंधता है ।

**प्रश्न ११५ - जीवन मुक्त ज्ञानी पुरुषों का कैसा निश्चय होता है ?**

**उत्तर -** जीवन मुक्त ज्ञानी का निश्चय होता है कि चिदाभास में ज्ञान होने के पहले भी मैं आत्मा तो ब्रह्म स्वरूप ही था । मुझमें तीनों कालों में शरीर तथा उसके धर्मों का सम्बन्ध नहीं हुआ । अज्ञान तथा उसका कार्य तुच्छ है ।

(१) आकाश में नीलिमा वास्तव से नहीं है उसी प्रकार मुझमें जगत् नहीं है । और जब जगत् ही नहीं तो उसका कर्ता ईश्वर भी नहीं।

(२) साक्षी का जो विषय है उसे साक्ष्य कहते हैं । अज्ञान तथा उसके कार्य को साक्ष्य कहते हैं । परमार्थ से साक्ष्य नहीं तो साक्ष्य के अभाव में साक्षी भी नहीं ।

(३) उसी प्रकार पदार्थों के प्रकाशक को दृक् कहते है और प्रकाशित होने वाले प्रपंच को दृश्य कहते हैं । यह देहादि दृश्य है ही

नहीं, इस वास्ते उनका दृक् (द्रष्टा) भी नहीं । यद्यपि केवल कूटस्थ चेतन की साक्षी और दृक् कहते हैं उसका निषेध तो हो नहीं सकता, तो भी साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी और दृश्य की अपेक्षा से दृक् नाम पड़ा है । परमार्थ से साक्ष्य और दृश्य का अभाव है । अत: उसकी अपेक्षा से होने वाले नाम साक्षी और दृक् का तो अभाव हो सकता है, किन्तु स्वरूप का नहीं हो सकता ।

बन्ध हो तो उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष हो सकता है । जब आत्मा में बन्ध है ही नहीं तो मोक्ष भी नहीं है । यदि अज्ञान हो तो उसका ज्ञान से नाश हो । अज्ञान है ही नहीं, इस वास्ते उसका नाश करने वाला ज्ञान भी नहीं है ।

इस प्रकार समझकर जीवनमुक्त आत्मज्ञानी समस्त कर्तव्यों को त्याग देता है जैसा कि अज्ञान अवस्था में कि ''मुझे यह करना कर्तव्य है'' ''यह करना योग्य है'' ऐसी कर्तव्य बुद्धि त्याग देता है । क्योंकि यह लोक और परलोक तुच्छ है। उसके लिये कुछ करना धरना नहीं है। आत्मा में बन्ध नहीं है अतः मोक्ष के लिये भी कुछ ग्रहण - त्याग कर्तव्य नहीं है । इस प्रकार आत्मा को नित्यमुक्त ब्रह्म स्वरूप जान करके जब निश्चल हो जाता है तब सब कर्तव्य स्वतः ही उससे छूट जाते हैं । तब वह निश्चल अक्रिय ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होता है ।

अभिप्राय यह है कि जीव को आत्म ज्ञान होने के पहले से ही वह नित्यमुक्त, ब्रह्म स्वरूप ही है । तो भी जीव ज्ञान होने के पहले आत्मा को कर्ता - भोक्ता मानकर सुख प्राप्ति के लिये तथा दुःख की निवृत्ति के लिये व्यर्थ अनेकों साधन करता है और दुःखों को प्राप्त होता रहता है ।

जब उत्तम आचार्य मिलें तब वे उसे वेदान्त महावाक्यों का उपदेश करते हैं तब उसे यह बोध होता है कि मैं कर्ता भोक्ता नहीं, किन्तु ब्रह्म स्वरूप हूँ । इस वास्ते मुझे किंचित् भी कर्तव्य नहीं है । यह ही श्रवणादिक साधन का फल है । ब्रह्म की प्राप्ति वेदान्त श्रवण का फल

नहीं है क्योंकि ब्रह्म तो सबका अपना स्वरूप है । उसकी प्राप्ति तो कहना सम्भव नहीं, श्रवण से केवल कर्तव्य की भ्रान्ति दूर होती है ।

अर्थात् जो अपने से पृथक् कुछ होने की या प्राप्त करने की इच्छा करता है वही अज्ञान का चिन्ह है अर्थात् जो जैसा है वह उससे नूतन कुछ अन्य होने की चाह नहीं करता वही ज्ञानी है । इसीलिये कहा है :-

**यही चिन्ह अज्ञान को, जो माने कर्तव्य ।**
**सोई ज्ञानी सुघड़ नर, नहीं जाकू भवतव्य ।।**

**प्रश्न ११६ - भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को किस परम गोपनीय तत्त्व का उपदेश किया था ?**

**उत्तर -** समस्त विद्याओं का राजा तथा समस्त गोपनियों का भी परम गोपनिय अति पवित्र प्रत्यक्ष फल देनेवाला धर्म युक्त साधन करने में अति सुगम अविनाशी तत्त्व का उपदेश भगवान श्री कृष्ण ने अपने उत्तम जिज्ञासु शिष्य अर्जुन को इस प्रकार कहा था कि - ब्रह्म एक अखंड है याने उसमें अंश-अंशीभाव नहीं है । वह असंग है याने उसका किसीसे सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वह सजातीय, विजातीय, स्वगत, भेद से रहित है। उसका जन्म नहीं होता, वह अजन्मा, अविनाशी, अरूपी, अनामी, अव्यक्त (अदृश्य) है । मूल अज्ञान सूक्ष्म तथा स्थूल जगत्, समष्टि तथा व्यष्टिपना ये समस्त कार्य प्रपंच उस ब्रह्म स्वरूप तेरी आत्मा में है ही नहीं। उस ब्रह्म में ईश, सुत्रात्मा, विराट, प्राज्ञ, तैजस, विश्व ये भेद भी नहीं है । भोग, योग, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप कुछ नहीं है और अज्ञानी की दृष्टि से ये सब उसी में ही हैं ।

जाग्रत में जो जगत् दिखाई पड़ता है वह सब बुद्धिमानों का बिलास है । जैसे कि स्वप्न में भोग एवं भाग्य है ही नहीं फिर भी चित्र-विचित्र वस्तुएँ उत्पन्न हुई - सी प्रतीत होती हैं किन्तु जब बुद्धि सुषुप्ति में लीन हो जाती है तब यह समस्त जाग्रत तथा स्वप्न का भेद नष्ट हो जाता है और एक रूप प्रतीत होता है । इस वास्ते यह सब जाग्रत एवं स्वप्न का

प्रपंच बुद्धि का रचा हुआ मनोरथ मात्र है और इस बुद्धि का प्रकाशक निश्चल आत्मा (ब्रह्म) तू स्वयं है ।

जिसके हृदय में ज्ञान रूपी प्रकाश पड़ा है और अज्ञानरूपी अंधकार का नाश हुआ है वह स्वयं सदा असंग, एकरस, ब्रह्मरूप, स्वयंप्रकाश आत्मा है। उसके लिये कुछ हुआ ही नहीं, कुछ है ही नहीं, कुछ होने का भी नहीं । केवल मनोराज्य मात्र जगत् का विलास वह देखता है । ऐसे मनोरथ मात्र जगत् की प्राप्ति की इच्छा तथा निवृत्ति की चेष्टा दोनों से वह मुक्त ही रहता है । अपने पूर्ण स्वरूप का बोध हो जाने से ज्ञानी को किसी प्रकार का ग्रहण - त्याग की इच्छा भी नहीं होती है ।

ज्ञानी देखता है फिर भी देखता नहीं है, वह सुनता है फिर भी नहीं सुनता, वह समस्त रसों का आस्वादन करता है किन्तु स्वाद नहीं लेता, वह सुंघता है किन्तु गन्ध नहीं लेता, वह स्पर्श करता है किन्तु छूता नहीं है । वह विवाद करता है फिर भी वह बोलता नहीं, वह पैर से दौड़ता है किन्तु फिर भी वह चलता नहीं है, वह स्त्री भोगता है फिर भी संन्यासी है ऐसा अद्‌भूत श्रेष्ठ गोप्य तत्त्व को तू धारण कर ।

इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने - अपने विषयों में रमण करती हैं किन्तु उनका मेरे साथ कोई संग नहीं याने आसक्ति नहीं है । मैं कोई इन्द्रिय नहीं और इन्द्रियाँ मेरी भी नहीं मैं तो असंग कूटस्थ साक्षी हूँ । भले इन्द्रियां अपने - अपने विषय में रमण करें या अपना - अपना विषय त्याग दे उसका मुझे किंचित् भी असर नहीं होता ऐसा शुद्ध ज्ञान का निश्चय ज्ञानी अर्जुन को कराया था, जो परम गोपनीय है । इस गूढ़ ज्ञानका सबके सम्मुख प्रकाश करने से संसार की मर्यादा भंग हो जाती है । क्योंकि अज्ञानी अधिक विषयों में ही प्रवृत्त होंगे । लक्ष्य अर्थ को तो सद्‌गुरु की कृपा द्वारा साधन सम्पन्न जिज्ञासु ही समझ पाता है ।

उपरोक्त निश्चय करके कोई भी जिज्ञासु कृतकृत्यता का अनुभव कर सकता है याने निश्चय कर कृतार्थ हो सकता है । क्योंकि जीव को

इस निश्चय के अलावा कुछ करना - धरना नहीं है । इसीको ब्रह्मज्ञान व आत्म साक्षात्कार कहते हैं ।

**प्रश्न ११७ - आत्मज्ञान न होने देने में कौन - सा प्रतिबन्ध होता है ?**

**उत्तर -** जिसे महावाक्यों का विचार करने पर भी बुद्धि की मंदता के कारण अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता उसके तीन हेतु हैं -

(१) वर्तमान प्रतिबंध - विषयासक्ति, कुतर्क और भेद बुद्धि की दृढ़ता ।

(२) भूत प्रतिबन्ध - धन, पुत्रादि प्रिय वस्तु का नाश हो जाने पर भी उनकी बारम्बार स्मृति ।

(३) भविष्य प्रतिबन्ध - ब्रह्मलोकादि के भोग की इच्छा या प्रबल प्रारब्ध भोग के शेष न होने से ज्ञान दृढ़ नहीं होने देना । इस प्रकार ये तीन प्रतिबन्ध के कारण वेदान्त श्रवण, मनन करने पर भी ज्ञान का उदय नहीं हो पाता । प्रतिबन्ध हटने पर श्रवण किया हुआ उपेदश दूसरे जन्म में बिना गुरु के भी केवल पूर्व श्रुत ज्ञान द्वारा मोक्ष दिला देता है ।

अतः जो बुद्धि के भेद हैं उनके लिये शास्त्रों में स्थूल रूप से लय चिन्तन का प्रकार कहा है ।

कार्य को कारण में लय करने का नास लयचिन्तन या प्रतिलोम परिणाम भी कहते हैं ।

**प्रश्न ११८ - लय चिन्तन किस प्रकार किया जाता है ?**

**उत्तर -** जैसे मिट्टी के समस्त कार्यों में भीतर - बाहर एक ही मिट्टी होती है, क्योंकि यह नियम है कि ''जो जिसका कार्य होता है वह अपने कारण स्वरूप से भिन्न नहीं होता'' । जैसे समस्त आभूषण स्वर्ण के कार्य होने से स्वर्ण स्वरूप ही हैं इसी प्रकार समस्त जगत् का मूल कारण ईश्वर है । इस वास्ते समस्त कार्य रूप जगत् ईश्वर के स्वरूप से भिन्न नहीं है । किन्तु समस्त जगत् का स्वरूप ईश्वर ही है और वह ईश्वर मै हूँ । इस प्रकार लय चिन्तन समझकर करना चाहिये ।

तो सर्व प्रथम समस्त स्थूल पंचीकृत सृष्टि का लय चिन्तन करना चाहिये। जैसे कि समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड पंचीकृत भूतों का कार्य है। उसमें जो पृथ्वी का कार्य है वह पृथ्वी स्वरूप है और जल का कार्य जल स्वरूप है, तेज का कार्य तेज स्वरूप है, वायु का कार्य वायु स्वरूप है तथा आकाश का कार्य आकाश स्वरूप ही है । क्योंकि जिस भूत का जो कार्य है वह कार्य अपने कारण भूत स्वरूप ही है ।

उसी प्रकार पंचीकृत पंचभूत भी अपंचीकृत भूत का कार्य होने से अपंचीकृत स्वरूप ही है । तथा अन्तःकरण आदिक सूक्ष्म सृष्टि भी अपंचीकृत भूतों का कार्य होने से अपंचीकृत भूत स्वरूप ही है। उसमें अन्तःकरण समस्त भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य होने से सत्त्वगुण स्वरूप ही है । तथा पांचों प्राण समस्त भूतों के रजोगुण का कार्य होने से रजोगुण स्वरूप ही हैं ।

इस प्रकार पांचों कर्मेन्द्रियों को भूतों के रजोगुण का कार्य होने से रजोगुण स्वरूप ही समझना है और पंचज्ञानेन्द्रिय भूतों के सत्त्वगुण का कार्य होने से सत्त्वगुण स्वरूप ही हैं । इस प्रकार १६ तत्त्वों की सूक्ष्म सृष्टि अपंचीकृत भूत स्वरूप ही है ।

इस प्रकार चिन्तन करने के बाद अपंचीकृत भूतों का भी लय चिन्तन करना चाहिये । जैसे -

(१) पृथ्वी जल का कार्य होने से जल स्वरूप ही है ।

(२) जल तेज का कार्य है इसलिये तेज स्वरूप है ।

(३) तेज वायु का कार्य है इसलिये वायु स्वरूप है ।

(४) वायु आकाश का कार्य है इसलिये आकाश स्वरूप है ।

(५) आकाश तमोगुण प्रधान प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति स्वरूप है।

(६) प्रकृति माया की ही विशेष अवस्था होने से (माया तमोगुण प्रधान

स्वरूप होने पर प्रकृति ही कहलाती है) माया स्वरूप ही है ।

(७) यह प्रधान (माया) ब्रह्म की ही शक्ति है इसलिये शक्ति स्वरूपा है।

(८) और यह शक्ति अपने शक्तिमान ब्रह्म से पृथक् नहीं है । जैसे पुरुष में सामर्थ्य रूप शक्ति पुरुष से भिन्न नहीं । उसी प्रकार ब्रह्म चेतन से प्रधान रूप शक्ति भिन्न नहीं, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है ।

इस प्रकार समस्त अनात्म पदार्थों का ब्रह्म में लय चिन्तन करके वह अद्वय ब्रह्म मुझ आत्मा से भिन्न नहीं किन्तु आत्मा ही है । अर्थात् वह अद्वय ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार लय चिन्तन द्वारा भी मोक्ष को प्राप्ति हो जाती है ।

**प्रश्न ११९ - ध्यान तथा ज्ञान में क्या भेद है ?**

**उत्तर -** ध्यान तो विधि, पुरुष की इच्छा, विश्वास, तथा हठ अभ्यास के आधीन है । बिना विधिपूर्वक अनिच्छा अविश्वास से तथा नियमित न करने से ध्येय की प्राप्ति नहीं होती । किन्तु ज्ञान तो प्रमाण (इन्द्रियादि) और प्रमेय (विषय) के अधीन है । उसमें पुरुष की श्रद्धा, विश्वास, रुचि, हठ की अपेक्षा नहीं रहती है ।

**(१) ध्यान का स्वरूप -** जैसे ''शालीग्राम, विष्णु रूप है'' (याने गोल, चिकना, भाटा, श्याम वर्ण का पत्थर) विष्णु रूप है ऐसा ध्यान करने वाले को उत्तम लोक की प्राप्ति होती है । विष्णु का स्वरूप शास्त्र द्वारा चतुर्भूज लक्ष्मी सहित शेष शैज्या, क्षीर समुद्र, शंख चक्र, गदा व पद्मसहित जाना है । और इधर नेत्र प्रमाण से शालीग्राम को शिला देखता है फिर भी विधि से, विश्वास से तथा इच्छा से शालीग्राम विष्णु है ऐसा ध्यान करता है । ऐसे ही किसी मंगल कार्य के प्रसंग पर सुपारी तथा गुड़ का गणेश रूप ध्यान पंडित लोग करवाते हैं । दीपावली के दूसरे दिन माताएँ गोबर को गोवर्धन रूप पूजती हैं । शालीग्राम तथा तुलसी पौधे का विवाह करते हैं । यह सब ध्यान, पूजन, उपासना, विधि,

विश्वास, इच्छा तथा हठ के अधीन है । ऐसे ध्यान को प्रतीकोपासना, ध्यान कहते हैं ।

**(२) ज्ञान का स्वरूप :-** जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान में नेत्र प्रमाण है और प्रमेय सूर्य है । वहाँ नेत्र और सूर्य का सम्बन्ध होते ही बिना इच्छा, विधि, विश्वास एवं हठ से सूर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान देखने वाले को हो ही जाता है। अथवा शत्रु को देखने के बिना इच्छा के भी नेत्र रूपी प्रमाण का शत्रु रूपी प्रमेय से सम्बन्ध होते ही शत्रु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही जाता है । फिर भले आप आँख बंद कर लें या चुराके अन्यत्र देखने लग जावें वह बात अलग है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो ही जाता है । अथवा भादवा सुदी चौथ की रात्रि चन्द्र दर्शन करने की विधि नहीं होने से मनुष्य की इच्छा न होने पर भी स्मरण रखते हुए कि ''आज मुझे चन्द्र दर्शन नहीं करना है'' तो भी किसी प्रकार से यदि प्रमेय रूप चन्द्र का प्रमाण रूप नेत्र से सम्बन्ध हो गया तो चन्द्र का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य होगा ही ।

इस प्रकार ज्ञान तो प्रमाण तथा प्रमेय के अधीन है एंव ध्यान विधि (आज्ञा) तथा इच्छा के अधीन है । याने विधि विश्वास और इच्छा के बिना ध्यान नहीं होता ।

(१) मनुष्य को उपासना करनी चाहिये ऐसा पुरुष को प्रेरणा देने वाला वाक्य या वचन विधि कहलाता है ।

(२) उस वचन में पूर्ण श्रद्धा का नाम विश्वास है ।

(३) अन्तःकरण की कामना रूप रजोगुण की वृति को इच्छा कहते हैं ।

(४) ध्यान हठ से होता है । क्योंकि निरन्तर ध्येय के स्वरूप का चिन्तन ही ध्यान कहलाता है । और जब - जब विक्षेप से वृत्ति बाहरी विषयों में चली जाती है तब - तब उसे वहाँ से हठ द्वारा हटाकर ध्येयाकार बनाना पड़ता है ।

ध्येय स्वरूप का याने धनुष वाण, मुरली या शंख चक्रादि रूप राम, कृष्ण, विष्णु आदि का ध्यान करते समय अभिन्न भाव करने को

ध्यान कहते हैं । याने जिसका मैं ध्यान कर रहा हूँ वह राम, कृष्ण, विष्णु आदि मैं हुँ इसे अहंग्रह ध्यान कहते हैं । भेद रूप से तो ध्यान ही नहीं होता।

उपरोक्त चारों नियम ध्यान के हेतु हैं, ज्ञान के नहीं हैं । ज्ञान में वृत्ति का सदैव ब्रह्माकार बनाये रहने हेतु कष्ट नहीं करना पड़ता । क्योंकि प्रकाश करते ही अन्धकार के विलय की तरह ज्ञान रूप अन्तःकरण की वृत्ति के उदय होते ही क्षण में आवरण का भंग हो जाता है । इस वास्ते उसे वहाँ ही स्थित रखने की झंझट नहीं करनी पड़ती । अस्तु, ज्ञान में हठ की जरूरत नहीं है ।

जिस पुरुष को अपरोक्ष ज्ञान न हुआ हो और वह यदि वेद की आज्ञा रूप विधि में विश्वास करके हठ से निरन्तर **''मैं ब्रह्म हूँ''** ऐसी अहंग्रह वृत्ति की सदैव स्थिति बनाये रखे तो वह अन्तःकरण-शुद्धि लाभ प्राप्त कर ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । उपासकों के यद्यपि ध्यान का विषय जो ब्रह्म ही है, किन्तु वह परमार्थ रूप नहीं है, मन कल्पित है। इस वास्ते भ्रम रूप है । इससे उसकी विषय करने वाली वृत्ति रूप ध्यान भी भ्रान्ति ज्ञान ही है, यथार्थ ज्ञान नहीं है । फिर भी मणि के प्रकाश को मणि मानकर खोजने वाले को या अग्नि के धूँवे को अग्नि मानकर उस ओर खोजने वाले को मणि एवं अग्नि की अन्त में प्राप्ति हो ही जाती है । उसी प्रकार अहंग्रह ध्यान से भी ब्रह्म का ध्यान होते ही मोक्ष प्राप्ति हो जाती है ।

ध्येय के स्वरूप के अनुसार ध्यान याने जैसा शास्त्र में उसके स्वरूप का वर्णन है वैसा ही ध्यान अंह रूप से याने वह ध्येय ब्रह्म मैं ही हूँ इस प्रकार के ध्यान करने को ध्येयानुसार ध्यान या अहंग्रह ध्यान कहते हैं ।

ज्ञान का फल दृष्ट है याने प्रत्यक्ष होता है तथा ध्यान का फल परोक्ष (अदृष्ट) होता है । कब इसका मिलेगा कोई निश्चित पता नहीं है। शास्त्रानुसार मरने पर फल मिलेगा ऐसा विश्वास करना पड़ता है ।

**प्रश्न १२०- ध्यान कितने प्रकार का होता है ?**

**उत्तर -** ध्यान दो प्रकार का होता है -

(१) प्रतीक ध्यान याने अन्य वस्तु का अन्य रूप से ध्यान जैसे शालिग्राम का विष्णु रूप से ध्यान करना ।

(२) ध्येय अनुसार ध्यान जैसे शास्त्र में विष्णु आदि देवता के स्वरूप का वर्णन किया है उसी अनुसार विष्णु आदि का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है ।

जिस प्रकार से मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार की वृत्ति वाला जो निर्गुण उपासना रूप अहंग्रह ध्यान है वह भी ध्येयानुसार ध्यान ही है । ध्येय स्वरूप का अपने से अभेद रूप से चिन्तन करने को अहंग्रह ध्यान कहते हैं चाहे सगुण हो या निर्गुण ।

**प्रश्न १२१ - ध्यान का अधिकारी कौन है तथा कौन नहीं है ?**

**उत्तर -** वेदान्त विचार करने में असमर्थ मन्द जिज्ञासु ही ध्यान का अधिकारी है किन्तु वेदान्त विचार में प्रविष्ट जिज्ञासु को विचार छोड़कर ओर कुछ कर्तव्य नहीं है । यह विचार भी अदृढ़ ज्ञानी हेतु कर्तव्य रूप है। दृढ़ ज्ञानी के लिये तो श्रवण, मनन की भी कर्तव्यता नहीं है । यदि अदृढ़ ज्ञानी विचार साधन छोड़कर अन्य तीर्थ, पूजा, जप, तप, यज्ञ ध्यान आदि साधनों की ओर मन को झुकाता है तो वह 'आरूढ़ पतित' याने मोक्ष सीढ़ी चढ़कर नीचे गिरने रूप कहलाता है । अथवा उसे मिष्टान्न फेंक हाथ चाट क्षुधा मिटाने की इच्छा वाला मूर्ख कहा जायगा । अतः विचारशील जिज्ञासु को साक्षात्कार पर्यन्त अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का संशय रहित बोध होने तक वेदान्त विचार ही कर्तव्य है ।

**प्रश्न १२२ - ध्यानी तथा ज्ञानी के मरण में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर -** (१) ज्ञानी के लिये श्रुति कहती है कि उसके प्राण अज्ञानी की तरह अन्य देश में उत्क्रमण नहीं करते हैं, क्योंकि जानेवाला सूक्ष्म शरीर तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गया और पूर्णकाम होने से अब वह किस हेतु से

अन्य देह को ग्रहण करेगा ? अर्थात् ज्ञानी को भावी देह का अभाव होने से उसके प्राण अपने समस्त कार्य सहित तत्त्वों में लय हो जाते हैं ।

(२) ज्ञानी की मृत्यु के उत्तरायणादिक काल, सिद्धासन, पद्मासन आदि आसन, भद्रामुद्रा तथा इष्ठ का ध्यान, इष्टलोक का मार्ग एवं तीर्थ स्थान, ॐ आदि के जप चिन्तन की अपेक्षा नहीं रहती है । अर्थात् ज्ञानी के लिये किसी काल की अपेक्षा नहीं है कि वह अमुक काल में मरण होने पर ही मुक्त होगा, वल्कि ज्ञानोदय के क्षण से ही वह तो सर्वदा मुक्त ही है ।

उसी प्रकार ज्ञानी के मरण हेतु किसी उत्तम स्थान, गंगा का किनारा या तीर्थ भूमि, काशी आदि स्थान की अपेक्षा भी नहीं है तथा मलिन स्थान जैसे चाण्डाल के गृह, स्मशान, कीचड़, पानी में डूबके किसी भी प्रकार प्राण किसी स्थल में निकल जावे तो भी वह सदा मुक्त ही है । ज्ञानी के मरण के लिये आसन का भी नियम नहीं कि वह अमुक आसन में स्थित होकर प्राण छोड़े वल्कि वह किसी भी आसन में रहकर प्राण छोड़े तब भी वह सदा मुक्त है ।

**तीर्थे चाण्डालगेहे वा यदि वा नष्टचतन: ।**
**परित्यजन्देहमेवं ज्ञानदेव निमुच्यते ।। ३४ ।।**

- पद्मपुराण उत्तरखण्ड -शिवगीता अध्याय १३

उसी प्रकार ज्ञानी सावधान होकर ब्रह्म चिन्तन करते हुए प्राणों का त्याग करे अथवा रोग से व्याकुल होकर ''हाय - हाय'' इस प्रकार जोर -जोर से चिल्लाता हुआ मरे, फिर भी वह सर्वथा मुक्त ही है। उसके देह के भयानक रोग को देख भले ही अज्ञानी संदेह करे किन्तु वह सर्वथा मुक्त ही है । क्योंकि रोग-भोग तो प्रारब्धानुसार सभी को भोगकर ही निवृत्त होते हैं । इस वास्ते ज्ञानी के मरण काल में देश, काल, आसन, ध्यान, जप, मार्ग चिन्तन (इष्टलोक) की अपेक्षा नहीं रहती । क्योंकि जिस समय वह ज्ञान प्राप्त कर अज्ञान से मुक्त हुआ है तभी से वह मुक्त हुआ है ।

जैसे ज्ञानी के लिये मरण काल में देश, काल की अपेक्षा नहीं होती उससे विपरीत ध्यान उपासक को देश काल की अपेक्षा मरण के समय रहती है । क्योंकि उत्तरायण आदिक काल में, एकादशी आदि तिथि में, काशी आदि स्थान में, सिद्धासन, पद्मासन आदि आसन में, भद्रा आदि मुद्रा में यदि उपासक शरीर छोड़े तब उसको उसकी उपासना का उचित फल मिलता है । तथा उपासक को तो ध्येय ब्रह्म का स्मरण मरण के समय अवश्य ही होना चाहिये । जिसका ध्यान जीवित अवस्था में किया था उसी ध्येय का ध्यान मरण समय पर उपासक को ''अन्तमति सो गति'' रूप फल को प्राप्त होता है ।

फिर जैसे ध्येय का स्मरण मरण काल में होना चाहिये वैसे ही उसके लोक को प्राप्त करने का जैसा मार्ग शास्त्र में बताया है कि उसका प्राण कहाँ - कहाँ होकर किस - किस मार्ग के द्वारा उस लोक को जावेगा वह क्रमशः स्मरण होना जरूरी है । यदि मार्ग चिन्तन में गड़बड़ी हो गई तो भटक जावेगा ।

उसी प्रकार मरण काल में उपासक को ॐ कार का जप एवं आसन में स्थित होकर भी प्राण छोड़ने की विधि है । जब सब साधन ठीक हों तब उसको फल मिलता है । यदि प्रारब्ध से मरण समय में प्रबल रोग के कष्ट से दु:ख चिन्तन में पड़ गया तो फिर जन्म ग्रहण कर साधना प्रारम्भ करनी पड़ेगी ।

यद्यपि भीष्म आदि ज्ञानी कहलाते हैं किन्तु उपासकों को उपदेश करने हेतु उन्होंने अपने मरण काल को जब तक उत्तरायण नहीं हुआ प्राण त्याग नहीं किये । वशिष्ठ, नारद, भीष्मादि अधिकारी कहलाते हैं । एक कल्प तक यहीं रहते हैं ? इच्छानुसार देह त्याग एवं धारण कर उपदेश करते रहते हैं । इनको जीवन मुक्ति समस्त व्यवहार करने पर भी बनी रहती है तथा कल्प बाद मोक्ष हो जाता है ।

इस प्रकार ज्ञानी तथा उपासक के मरण में शास्त्रों में भेद बतलाया है । उपासक को इतना सब कर लेने पर भी कैवल्य मोक्ष तो नहीं मिलता

क्योंकि नित्य मोक्ष तो केवल ज्ञान से ही मिलता है । उपासक को तो उसके इष्ट लोक की प्राप्ति होकर चार प्रकार का मोक्ष ही मिलता है जो कि कल्प के अन्त में जब सृष्टि होगी पुनः जन्म धारण कर ८४ में भ्रमण करना होगा।

**प्रश्न १२३ - मुक्ति कितने प्रकार की होती है तथा उत्तम मुक्ति कौनसी है ?**

**उत्तर - सालोक्यमपि सारूप्य साष्ट्र्यं सायुऽयमेव च ।**
**कैवल्यं चेति तां विद्धि मुक्ति राघव पञ्चधा ॥**

... शिवगीता १३ । ३

ॐ कार ब्रह्म की उपासना करने वाले उपासकों को चार प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति होती है किन्तु इन चार से विलक्षण पंचम कैवल्य मुक्ति है जो केवल ज्ञानियों को ही सुलभ होती है । भेद उपासना करने वाले भक्तों को इन चार प्रकार की मुक्ति में से किसी एक की प्राप्ति होती है जिसके वे इच्छा किया करते थे ।

(१) **सालोक्य मुक्ति : -** राजा की प्रजा के समान इष्ट के लोक में रहने को सालोक्य मुक्ति कहते हैं ।

(२) **सामीप्य मुक्ति :-** उससे श्रेष्ठ राजा के नौकर की तरह नजदीक सम्बन्धवाली इष्ट के समीप सेवा करने वाली मुक्ति को सामीप्य मुक्ति कहते हैं ।

(३) **सारुप्य मुक्ति :-** उससे श्रेष्ठ राजा के छोटे भाई की तरह इष्ट के समान रूप को प्राप्ति होनेवाली मुक्ति को सारूप्य मुक्ति कहते हैं।

(४) **सायुज्य मुक्ति :-** उससे श्रेष्ठ राजा के बड़े लड़के के समान इष्ट के समान सत्य संकल्प, सत्यकाम आदि ऐश्वर्य प्राप्त हो उसे सायुज्य मुक्ति कहतें हैं । इसीको सार्ष्टि मुक्ति भी कहते हैं ।

यद्यपि एक ही ब्रह्मलोक अपने - अपने इष्ट की भक्ति के अनुसार गोलोक, साकेतलोक , कैलाशलोक, विष्णुलोक के रूप में भक्तों

को प्रतीत होता है । उपरोक्त लोक की प्राप्ति होने पर भी वे सब लोक भोग नाशवान् ही हैं ऐसा गीता श्रुति की घोषणा है -

**आब्रह्म भुवनाल्लोका : पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।**
**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्याते ॥**

- गीता ८ ।१६

अर्थात् ब्रह्मलोक से लेकर अन्य समस्त लोक जो भी भक्तों की भावनानुसार प्रतीत होते हैं उनको प्राप्त होकर पुनः संसार में आना पड़ता है । परन्तु ब्रह्म आत्मा एकत्व बोध को प्राप्त होकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होना पड़ता । क्योंकि आत्मब्रह्म कालों से अतीत है और सब ब्रह्मादिकों के लोक काल से बंधे होने से अनित्य है ।

(१) यद्यपि ब्रह्म लोक में गये उपासकों को हिरण्ययगर्भ के समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है ।

(२) वे सत्य संकल्प होते हैं याने जो - जो इच्छा करते है उसी वक्त वैसा ही बन जाते हैं ।

(३) वे जैसा शरीर धारण करना चाहें वैसा ही शरीर हो जाता है ।

(४) जिस भोग की वे इच्छा करते हैं वही प्राप्त होता है ।

(५) एक समय में अनेकों शरीर धारण कर अनेक भोग, भोग सकते हैं केवल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा संहार के कार्य को छोड़कर समस्त ईश्वर के ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं इनको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। किन्तु बहुत काल भोग, भोगने के पश्चात् हिरण्यगर्भ के लोक का नाश हो जाता है और पुन: संसार में आना पड़ता है । उसमें भी प्रतीक ध्यान से तो ब्रह्मलोक की भी प्राप्ति नही होती है । ध्येय अनुसार याने सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म को अपने से अभिन्न मानकर अपना स्वरूप मानकर, उसका चिन्तन करने वाले अहंग्रह ध्यानी को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति तो ज्ञान से ही होती है ।

(६) जीव – ब्रह्म एकत्व निश्चय से सर्वश्रेष्ठ कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है जिसे प्राप्त होकर पुनः जन्म - मरण का कष्ट भोगना नहीं पड़ता । इसके लिये गीता श्रुति प्रमाण करती है :-

**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता : ।**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।**

- गीता १४ । २

इस जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुन: उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते हैं । क्योंकि उनकी दृष्टि में एक आत्मा से पृथक् कोई वस्तु निश्चय में नहीं होती है । इसीको ब्राह्मी स्थिति भी कहा है ।

अतः उपरोक्त पाँच प्रकार की मुक्ति में कैवल्य मुक्ति सर्व श्रेष्ठ है जो केवल जीव - ब्रह्म के एकत्व ज्ञान से ही प्राप्त होती है । इसके अलावा वह न कर्म से, न उपासना से ही प्राप्त की जा सकती है ।

## प्रश्न १२३ – मैं सच्चिदानन्द स्वरूप कैसे हुँ ?

**उत्तर** – सच्चिदानन्द शब्द में तीन पद है । सत् + चित्+ आनन्द तीनों मिलकर होता है सच्चिदानन्द ।

(१) तीनों कालों में जिसका किसी भी प्रकार अभाव न हो सके वह सत् कहलाता है । जागृति में मैं हूँ, स्वप्न में मैं हूँ, सुषुप्ति में मैं हूँ, प्रात: काल में मैं हूँ, मध्याह्न काल में मैं हूँ, सायंकाल में मैं हूँ, दिवस में मैं हूँ, रात्रि में मैं हूँ, पक्ष में मैं हूँ, मास में मैं हूँ, ऋतु में मैं हूँ, वर्ष में मैं हूँ, बाल्यकाल में मैं हूँ, यौवन काल में मैं हूँ, वृद्ध काल में मैं हूँ, पूर्व देह में मैं हूँ, वर्तमान देह में मैं हूँ, भावी देह में मैं हूँ, युग में मैं हूँ, मनु में मैं हूँ, कल्प में मैं हूँ, भूतकाल में मैं हूँ, वर्तमान काल में मैं हूँ, तथा भविष्य काल में मैं हूँ, इस प्रकार तीन काल में मैं हूँ, इसलिये सत् हूँ ।

(२) जो सब को जाने व स्वयं किसी के जानने में न आवे वह चित् कहलाता है । चित् को ही चैतन्य एवं ज्ञान भी कहते हैं । उपरोक्त समस्त काल, अवस्था, देश, नाम, रूप को मैं जानता हूँ इसलिये चित् हूँ ।

(३) जो परमप्रेम का आस्पद होता है वही परमआनन्द स्वरूप होता है । अपना आत्मा सदैव सबको प्रिय है एवं सबसे प्यारा है । इसलिये उपरोक्त 'समस्त नाम, रूप, वस्तु, देश, काल, अवस्थादि में अपनी आत्मा याने स्वयं मैं प्यारा होने से आनन्द रूप है । क्योंकि परम प्रीति का विषय ही परमानन्द स्वरूप है और सबको अपने आत्मा में प्रीति है । जहाँ कष्ट हो वहाँ किसी की प्रीति नहीं होती । इस प्रकार मैं सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म निर्विकार सिद्ध हूँ ।

**प्रश्न १२५ - मेरे से भिन्न नाम रूप वस्तु सहित तीन काल असत् हैं यह कैसे जानें ?**

**उत्तर -** सत् -असत् का निर्णय अन्वय - व्यतिरेक रूप युक्ति से होता है।

जो सब अवस्था में पाया जाय उसे अन्वय कहते हैं ।

जो एक अवस्था से दूसरी में अभाव रूप हो वह व्यतिरेक कहलाता है । जैसे माला में धागा अन्वयी तथा पुष्प, मणि, मोती, व्यतिरेकी है । अन्वय :- जो मैं जाग्रत में हूँ वही मैं स्वप्न में हूँ इसलिये मैं सत् हूँ अन्वय रीति से ।

**व्यतिरेक :-** जाग्रत मुझ में नहीं है इसलिए असत् है व्यतिरेक युक्ति से ।

**अन्वय :-** जो मैं स्वप्न में हूँ वही मैं सुषुप्ति में हूँ इसलिये मैं सत् हूँ । अन्वय रीति से ।

**व्यतिरेक :-** स्वप्न मेरे में नहीं है इसलिये असत् है । व्यतिरेक रीति से ।

**अन्वय :-** जो मैं सुषुप्ति में हूँ वही मैं प्रात: काल हूँ इसलिये सत हूँ । अन्वय रीति से ।

**व्यतिरेक -** सुषुप्ति मेरे में नहीं है इसलिये असत् है व्यतिरेक रीति से ।

इसी प्रकार अन्य समस्त देश, काल, ऋतु, अवस्था का अन्वय - व्यतिरेक समझना चाहिये । उसमें मैं सब में अन्वय हूँ शेष सब व्यतिरेक रूप है । अन्वय होने से मैं सत् हूँ । मुझको छोड़कर समस्त व्यतिरेकी होने से नाम, रूप, देश, काल, वस्तु असत् है ।

**प्रश्न १२६- मेरे से भिन्न सब जड़ कैसे हैं ?**

**उत्तर -** चित व जड़ का निर्णय भी अन्वय व्यतिरेक युक्ति द्वारा होता है। उसका प्रकार यह है -

**अन्वय -** जो मैं जाग्रत को जानता हूँ वही मैं स्वप्न की जानता हूँ, इसलिये चित् हूँ ।

**व्यतिरेक -** जाग्रत मेरे को नहीं जानती, इसलिये जड़ है ।

**अन्वय -** जो मैं स्वप्न को जानता हूँ वही मैं सुषुप्ति को जानता हूँ इसलिये चित् हूँ ।

**व्यतिरेक -** स्वप्न मेरे को नहीं जानता इसलिये स्वप्न जड़ है।

**अन्वय -** जो मैं सुषुप्ति को जानता हूँ वही मैं प्रातः काल को जानता हूँ इसलिये चित् हूँ ।

**व्यतिरेक -** सुषुप्ति मुझको नहीं जानती इसलिये सुषुप्ति जड़ है, इत्यादि।

इस रीति से चित् और जड़ के निर्णय में अन्वय व्यतिरेक युक्ति से अपने को छोड़ सभी जड़ हैं ।

यदि आत्मा अर्थात् अपने आपको अप्रकाश रूप जड़ मान लेंगे तो अनात्म जड़ वस्तु को अन्य जड़ वस्तु का बोध किसी को किसी प्रकार हो

ही नहीं सकेगा । जगत् अंधकार रूप हो जावेगा । आत्मा के ज्ञान रूप प्रकाश से ही समस्त विदित, अविदित वस्तु का प्रकाश होता है।

प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण स्वयं परिच्छिन्न होने से घटवत् जड़ है । जो भी परिच्छिन्न होता है वह घड़े की तरह कार्य होता है । देश तथा काल द्वारा जिसका अन्त प्रतीत होता हो उसे परिच्छिन्न कहते हैं । क्योंकि "जो - जो कार्य होता है वह जड़ होता है" । अन्तःकरण और इन्द्रियाँ भी जड़ हैं इससे वे किसी वस्तु का प्रकाश नहीं कर सकती। इस वास्ते आत्मा समस्तका प्रकाशक होने से चैतन्य ज्ञान रूप है ।

"जड़ अनात्म उस वस्तु को कहते हैं जो स्व-पर को न जाने और "चेतन उसे कहते हैं जो सबको जाने ।" मैं, देह से लेकर सम्मूर्ण ब्रह्माण्डों के समस्त पदार्थों को जानता हूँ इसलिये चैतन्य ज्ञान स्वरूप हूँ।

**जा विभु सत्य प्रकाशते, परकाशत रविचंद ।**
**सो साक्षी मैं बुद्धि को, शुद्ध रूप आनन्द ।।**

**प्रश्न १२७ - ज्ञान आत्मा का गुण है या स्वरूप है ?**

**उत्तर :-** ज्ञान नित्य होने से आत्मा का स्वरूप ही है, गुण नहीं । यदि ज्ञान आत्मा का गुण होता तो कभी होता, कभी नहीं होता किन्तु ज्ञान तो तीनों कालों में रहता है, इसलिये नित्य है और नित्य होने से आत्मा से भिन्न नहीं, अभिन्न ही है ।

जो गुण होता है वह कभी होता है, कभी नहीं होता है याने आगमापायी होता है । ज्ञान नित्य है, इसलिये आगमापायी नहीं है । इस वास्ते आत्मा का स्वरूप ही है । सुषुप्ति में कोई भी इन्द्रिय अन्तःकरण नहीं होने पर भी अनुभव किये का जाग्रत में स्मरण कर मैं सुख से सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं चला इस प्रकार सुख व अज्ञान का ज्ञान सबको अनुभव सिद्ध ही है और अनुभव सिद्ध वस्तु में अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं रहती है । यदि आत्मा ज्ञान स्वरूप न होती तो

मुच्छ्र्ा, सुषुप्ति, समाधि के काल का भी बोध किसके द्वारा होता ? फिर ज्ञान स्वभाव को छोड़कर आत्मा कभी रहता ही नहीं इसलिये ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ।

जैसे उष्णता छोड़कर अग्नि कभी नहीं रह सकती इससे उष्णता अग्नि का स्वरूप है । उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है । उष्णता और ज्ञान आगमापायी नहीं हैं ।

**प्रश्न १२८ - ज्ञान में नित्यता तो प्रकट दिखती नहीं किन्तु ज्ञान उत्पन्न तथा नाशरूप अवश्य दिखता है । अत ज्ञान नित्य कैसे ?**

**उत्तर** - ज्ञान की उत्पत्ति तथा नाशरूप व्यवहार देखने में आता है । जैसे कोई कला का ज्ञान किसी से सीखने पर कह देते हैं मुझे अमुक ज्ञान हो गया व बहुत काल अभ्यास छूटने पर कहते हैं वह मेरा ज्ञान नष्ट हो गया। सब भूल गया जो सीखा था किन्तु ऐसा कथन होने से भी ज्ञान की उत्पत्ति व नाश नहीं होता । क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति की उत्पत्ति तथा नाश होता है और तत्त्व को न जानने वाले उस वृत्ति को ही ज्ञान की उत्पत्ति तथा नाश कह देते हैं ।

आत्म स्वरूप जो ज्ञान है वह सामान्य एवं विशेष दो प्रकार का है। सामान्य ज्ञान नित्य है तथा वह विशेष व्यवहार का हेतु नहीं । किन्तु वृत्ति में आरूढ ज्ञान विशेष व्यवहार का हेतु नहीं । किन्तु वृत्ति में आरूढ़ ज्ञान विशेष है । अर्थात् आत्मा का जो ज्ञान स्वरूप है वह सामान्य प्रकाश रूप है और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण द्वारा जो ज्ञान होता है वह विशेष प्रकाशरूप है । लोग इसी विशेष ज्ञान को ही आत्मा का स्वरूप ज्ञान मान द्वन्द्व में पड़ जाते हैं । इस वास्ते सामान्य ज्ञान जो इन्द्रियादिक को प्रकाश देता है वही आत्मा का स्वरूप है जो नित्य है। तथा इन्द्रिय, अन्तःकरण द्वारा जो ज्ञान विशेष है वही उत्पत्ति - नाश रूप है ।

## प्रश्न १२९ - मेरे से पृथक् नाम, रूप, वस्तु सहित तीन काल दु:ख रूप हैं यह कैसे जानें ?

**उत्तर -** आनन्द और दुःख का निर्णय अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से होता है ।

**अन्वय: -** जो मैं जाग्रत में प्रिय हूँ वही मैं स्वप्न में भी परमप्रिय हूँ इसलिये मैं आनन्द रूप हूँ ।

**व्यतिरेक :-** जाग्रत मेरे को प्रिय नहीं इसलिये दुःख रूप है ।

**अन्वय :-** जो मैं स्वप्न में प्रिय हूँ वही मैं सुषुप्ति से परमप्रिय हूँ इसलिये मैं आनन्द रूप हूँ ।

**व्यतिरेक :-** स्वप्न मेरे को प्रिय नहीं, इसलिये वह दु: ख रूप है ।

**अन्वय :-** जो मैं सुषुप्ति में प्रिय हूँ वही मैं प्रात:काल प्रिय हूँ इसलिये मैं आनन्द रूप हूँ ।

**व्यतिरेक -** सुषुप्ति मुझे प्रिय नहीं इसलिये वह दु: ख रूप है

इस प्रकार अन्य नाम, रूप, वस्तु, देश, काल को भी अपने से पृथक् दु:ख रूप जानना चाहिये । दुःख अनात्म वस्तु उसे कहते हैं जो सुख रूप न हो और आनन्द आत्मा उस वस्तु को कहते हैं जो दु:ख रूप न होवे । दु:ख का प्रकाशक होने से दु:ख रूप नहीं । यदि मुझ आत्मा में दु:ख होवे तो सुषुप्ति समाधि तथा मन को औषधि से शून्य करने पर भी दु:ख अनुभव होना चाहिये था । क्योंकि आत्मा तो उस समय भी है किन्तु दु:ख नहीं है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा सदा आनन्द रूप है तथा उससे पृथक् समस्त नाम, रूप, देह आदिक दु:ख रूप हैं । आत्मा यदि आनन्द रूप न हो तो विषय के सम्बन्ध से स्वरूपानन्द का भान जो होता है वह नहीं होना चाहिये । क्योंकि विषयों में तो आनन्द है नहीं और आनन्द अनुभव सिद्ध है ही । जब वृत्ति

अन्तर्मुखी होती है तब स्वरूप आनन्द ही का भान होता है । विषय तो केवल वृत्ति को एकाग्र करने में निमित्त मात्र साधन होते हैं ।

यदि विषय में आनन्द हो तो एक वस्तु में जिस व्यक्ति को सुख होता है उसी विषय में दूसरे व्यक्ति को दु:ख होता है । वह नहीं होना चाहिये। किन्तु समस्त को एक पदार्थ सुखरूप अथवा दुःखरूप होता नहीं । जैसे अग्नि के स्पर्श से पतंग (अग्नि का कीड़ा) को, सिंहको देखने से सिंहनी को तथा साँप को देखने से साँपनी को सुख होता है किन्तु अन्य को नहीं होता बल्कि दु:ख होता है वह नहीं होना चाहिये ।

सिद्धान्त तो यह है कि अग्नि के कीड़े को अग्नि के स्पर्श की इच्छा होती है और जब तक अग्नि का स्पर्श नहीं होता तब तक उसकी बुद्धि में चंचलता होती है । उससे स्वरूप के आनन्द का प्रतिविम्ब बुद्धि में नहीं पड़ता । अग्नि के सम्बन्ध होने से क्षणमात्र वह इच्छा दूर होकर बुद्धि निश्चल (स्थिर) होता है । इसलिये उसमें स्वरूपानन्द का भान होता है । अन्य मनुष्यों को अन्य पदार्थ की इच्छा होने से उनकी बुद्धि चंचल बनी रहती है एवं मिल जाने पर दूसरी इच्छा के पूर्व क्षण तक ही सुख की अनुभूति होती है । यह स्वरूपानन्द का भान और विषय का ज्ञान बहतु शीघ्र होने से मनुष्य को ऐसी भ्रान्ति होती है कि मुझे विषय से आनन्द प्राप्त हुआ । किन्तु वह आनन्द, स्वरूप का होते हुए भी चमड़े की थैली में रखे दुध तरह त्याज्य है ।

इच्छादिक से रहित उदासीन पुरुष जब एकान्त में बैठा रहता है तब उसे बहिर्मुख ज्ञान रूप कोई वृत्ति तो होती नहीं किन्तु उसे आनन्द का भान होता है । इस प्रकार इच्छादिक के अभाव रूप निमित्त से या विषय की प्राप्ति से इच्छा दूर होने पर अन्तर्मुख वृत्ति होने से आनन्द का ग्रहण करती है। विषय के अभाव पूर्वक विचार आदि साधन से जो आनन्द का भान होता है वह स्वर्ण आदिक उत्तम पात्र में रखे दूंध के समान ग्रहण करने जैसा है ।

इस प्रकार विषय के सम्बन्ध से आत्मा के स्वरूप आनन्द का भान होता है । यदि आत्मा आनन्द रूप न हो तो विषय के सम्बन्ध से आनन्द का भान नहीं होता या विषय सम्मुख होने पर भी वृत्ति अन्य निमित्त से चंचल हो जाने पर भी आनन्द नहीं आता है । इस वास्ते अपनी आत्मा ही आनन्द रूप है ।

**प्रश्न १३० - मनुष्य की प्रीति विषय में नहीं, किन्तु आत्मा में हीं है यह कैसे जानें ?**

**उत्तर -** मनुष्य को आत्मा के सम्बन्ध वाली वस्तु में प्रेम होता है । उसमें जो वस्तु आत्मा के विशेष समीप होती है उसमें विशेष प्रेम होता है । इस प्रकार से व्यवहार के बाहर के पदार्थों की अपेक्षा से अन्दर के पदार्थों में अधिक प्रीति होती है । जैसे -

(१) परम्परा से आत्मा का सम्बन्धी जो पुत्र का मित्र है उसके ऊपर प्रीति होती है ।

(२) पुत्र के मित्र की अपेक्षा से पुत्र में अधिक प्रीति होती है ।

(३) पुत्र की अपेक्षा अपने स्थूल शरीर में विशेष प्रीति है ।

(४) स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर में विशेष प्रीति है ।

(५) सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा अपने आत्मा में विशेष प्रीति याने सबकी प्रीति दु:ख के अभाव में है, अन्य में होती नहीं ।

उपरोक्त पाँचों का आत्मा से सम्बन्ध है । उसमें पूर्व - पूर्व की अपेक्षा उत्तर - उत्तर में विशेष प्रीति है । आत्मा का आभास सूक्ष्म शरीर में है अन्य में नहीं । इस वास्ते आभास द्वारा आत्मा का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध है । सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध है । इस वास्ते सूक्ष्म शरीर द्वारा आत्मा का स्थूल शरीर से सम्बन्ध है ।

पुत्र के साथ स्थूल शरीर द्वारा आत्मा का सम्बन्ध है । पुत्र के मित्र के साथ पुत्र द्वारा आत्मा का सम्बन्ध है । आत्मा का सम्बन्ध

होने से पदार्थ में प्रीति होती है । इस वास्ते आत्मा में ही सबकी मुख्य प्रीति है, पदार्थ में किसी को नहीं होती । जैसे पुत्र के मित्र में पुत्र के सम्बन्ध से प्रीति है । इस वास्ते पुत्र में ही प्रीति है पुत्र से भिन्न में नहीं है । इसी प्रकार आत्मा की अधिक समीपता वाले पदार्थ में अधिक प्रीति होती है । इसलिये आत्मा में ही समस्त की प्रीति है । और यह प्रीति भी दुःख के अभाव में होती है अन्य में नहीं । अन्य पदार्थों में जो प्रीति होती वह आनन्द के निमित्त से ही होती है । अत: सर्व की प्रीति का विषय जो आत्मा है वह आनन्द रूप है ।

अस्तु ! सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही जीव का अपना स्वरूप है । सत्, चित्, आनन्द परस्पर भिन्न नहीं हैं किन्तु एक ही हैं । यदि ये आत्मा के गुण होते तो भिन्न होते किन्तु ये आत्मा के नित्य स्वरूप होने से भिन्न नहीं हैं । जैसे उष्ण और प्रकाश रूप अग्नि है उसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मा है और शास्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ही ब्रह्म कहा है । अत: अपना आत्मा ही आनन्द ब्रह्म है ।

**प्रश्न १३१ - आत्मा असंग कैसे है ?**

**उत्तर** - संग नाम सम्बन्ध का है । वह सम्बन्ध तीन प्रकार के होता है :- (१) सजातीय सम्बन्ध (२) विजातीय सम्बन्ध (३) स्वगत सम्बन्ध ।

(१) अपनी जाति वाले के साथ जो सम्बन्ध है वह सजातीय सम्बन्ध कहलाता है । जैसे - ब्राह्मण का अन्य ब्राह्मण के साथ सम्बन्ध ।

(२) अन्य जाति वाले से जो सम्बन्ध होता है वह विजातीय सम्बन्ध कहलाता है । जैसे -ब्राह्मण का अन्य जाति के साथ सम्बन्ध ।

(३) अपने अवयवों से जो सम्बन्ध है वह स्वगत सम्बन्ध है । जैसे- अपने हस्त, पाद, मस्तक, मुख, कान आँख आदिक में सम्बन्ध है ।

आत्मा चेतन एक है । यदि आत्मा दो या अनेक हों तो आत्मा में सजातीय सम्बन्ध बने, किन्तु आत्मा तो एक ही है । इसलिये आत्मा

में सजातीय सम्बन्ध नहीं है । और जीव, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मैं, तू इत्यादिक भेद तो उपाधि के कारण है इसलिये सब मिथ्या है ।

आत्मा अद्वैत और सत् है । उससे भिन्न माया और माया के कार्य समस्त स्थूल सूक्ष्म प्रपंच है । वह सब मृगतृष्णा (मरूस्थल के जल) की तरह आत्मा में कल्पित है । सो असत् है और असत् वस्तु कुछ होती नहीं । इस वास्ते आत्मा का किसी के साथ विजातीय सम्बन्ध भी नहीं ।

आत्मा निरवयव है । आत्मा में यदि अवयव हो तो आत्मा का स्वगत सम्बन्ध बने । और जो सच्चिदानन्द आदिक है सो तो आत्मा का स्वरूप ही है । इस वास्ते आत्मा का किसी के साथ स्वगत सम्बन्ध भी नहीं बन सकता ।

इस प्रकार आत्मा सजातीय, विजातीय तथा स्वगत सम्बन्ध रहित असंग है ।

**प्रश्न १३२ - यह आत्मा अजन्मा कैसे है ?**

**उत्तर** - स्थूल देह का धर्म जन्म है किन्तु सूक्ष्म देह का भी जन्म नहीं होता तो फिर आत्मा का जन्म तो होगा ही कैसे ? और आत्मा का जन्म मान लेंगे तो मरण भी मानना पड़ेगा जो श्रुति - विरूद्ध होने से परलोकवादि आस्तिकों को अमान्य होगा । क्योंकि यदि आत्मा उत्पत्ति विनाशवाला हो तो आत्मा के प्रथम जन्म में उसके पूर्व के कारण बिना ही सुख-दुःख के भोग प्राप्त होंगे । और किये कर्म का भोग बिना नाश होगा । इस वास्ते आत्मा को कर्ता - भोक्ता मानें तो भी आत्मा को जन्म-मृत्यु रहित ही मानना पड़ेगा ।

क्योंकि आत्मा का जन्म - मरण मान लेने से यह आपत्ति खड़ी होती है कि पूर्व जन्म में आत्मा तो थी नहीं, न उसके कर्म थे । जो जन्म से मृत्यु तक सुख-दुःख भोग दिखते हैं वे बिना कर्म किये ही भोगने पड़ेंगे । इस प्रकार से तो वेदोक्त कर्म की व्यर्थता सिद्ध होगी,

पाप - पुण्य का विधान निष्फल ही होगा । क्योंकि आज के किये सत् कर्म का बिना भोग किये मरण हो जाना है । आगे तो इस वर्तमान शरीर की आत्मा रहना नहीं । इस प्रकार आत्मा को जन्म - मरण वाला मानने से दो दोष खड़े हो जाते हैं ।

फिर जो आत्मा का जन्म बताता है उसे आत्मा के जन्म का कोई तो कारण बताना ही होगा । क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होती नहीं । और आत्मा से भिन्न ही आत्मा का कारण बताना होगा । किन्तु आत्मा से पृथक् सर्व आत्मा में कल्पित है । और कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान का कारण नहीं हो सकती, अत: आत्मा अजन्मा है ।

**प्रश्न १३३ - आत्मा निर्विकार कैसे है ?**

**उत्तर -** जिस वस्तु का जन्म होता है वह वस्तु ही सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, विनाश, रूप इन छह विकार वाली होती है । आत्मा तो अजन्मा है इसलिये वह षट् विकार रहित निर्विकार है । ये छह विकार देह में हैं ।

(१) देह जन्मती है ।

(२) देह का जन्म हुआ है, यह अस्तिपना पूर्व नहीं था अब है ।

(३) देह बालक हुआ यह वृद्धि है ।

(४) देह युवा हुआ यह परिणाम है ।

(५) देह वृद्ध हुआ यह अपक्षय है ।

(६) देह का मरण हुआ यह विनाश है ।

उपरोक्त धर्म देह के हैं । देह को जानने वाले और देह से भिन्न मुझ आत्मा के नहीं है ।

**प्रश्न १३४ - जब एक ही चेतन सर्वत्र है तब ब्रह्म एवं आत्मा ये दो भिन्न नाम क्यों हुए ?**

**उत्तर** - एक ही चेतन समस्त प्रपंच और माया का अधिष्ठान है इसलिये वह ब्रह्म कहलाता है ।

वही चेतन अविद्या तथा व्यष्टि देह वगैरह का अधिष्ठान है इसलिये आत्मा कहलाता है ।

(१) तत् पद का लक्ष्य ब्रह्म कहलाता है

(२) त्वं पद का लक्ष्य आत्मा कहलाता है ।

(३) ईश्वर साक्षी तत् पद का लक्ष्य है ।

(४) जीव साक्षी त्वं पद का लक्ष्य है ।

(५) व्यष्टि संघात् उपहित चेतन जीव साक्षी आत्मा है ।

(६) समष्टि संघात् उपाहित चेतन ईश्वर साक्षी परमात्मा है ।

यद्यापि जीव तथा ईश्वर की एकता नहीं बनती तथापि जीव साक्षी आत्मा और ईश्वर साक्षी परमात्मा की उपाधि पृथक् - पृथक् होने से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं है । जैसे घट में रहे घटाकाश और महाकाश का उपाधि के बिना स्वरूप से किंचित् भी भेद नहीं । उसी प्रकार आत्मा और ब्रह्म का व्यष्टि, समष्टि उपाधि के भेद बिना स्वरूप से कोई भेद नहीं, एक ही वस्तु है ।

**प्रश्न १३५ - आत्मा निराकार कैसे है ?**

**उत्तर** - किसी भी वस्तु का आकार चार प्रकार से हो सकता है । (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) लम्बा (४) छोटा

(१) आत्मा इन्द्रिय और मन का विषय नहीं है इसलिये स्थूल नहीं है, सूक्ष्म है ।

(२) आत्मा व्यापक है इसलीये उसे सूक्ष्म भी नहीं कह सकते जहाँ श्रुति में आत्मा को सूक्ष्म कहा है वहाँ उसके कहने का तात्पर्य है कि -

| | | | |
|---|---|---|---|
| पृथ्वी से जल | सूक्ष्म | तथा | व्यापक है । |
| जल से तेज | ,, | ,, | ,, |
| तेज से वायु | ,, | ,, | ,, |
| वायु से आकाश | ,, | ,, | ,, |
| अकाश से माया | ,, | ,, | ,, |
| माया से आत्मा | ,, | ,, | ,, |

(३) आत्मा सर्वत्र होने से उसे लम्बा नहीं कह सकते ।

(४) आत्मा व्यापक होने से उसे छोटा भी नहीं कह सकते । इसलिये आत्मा निराकार है ।

**प्रश्न १३६- अव्यक्त आत्मा कैसे है ?**

**उत्तर** - आत्मा मन, इन्द्रिय आदि साधनों द्वारा नहीं जानी जा सकती है। इन्द्रियों से अगोचर होने से अस्पष्ट है इसलिये आत्मा अव्यक्त है ।

**प्रश्न १३७ - आत्मा अव्यय कैसे है ?**

**उत्तर** - व्यय नाम खर्च होने का है । आत्मा पूर्ण है । वह कभी कम नहीं होता सदैव समान रहता है । जैसे समुद्र का वर्षा काल में कितना भी पानी बादलों द्वारा सर्वत्र बरस जाने पर भी समुद्र ज्यों का त्यों ही दिखता है । वैसे आत्मा भी अव्यय है । समुद्र तो फिर भी कुछ न कुछ अवश्य कम होता ही है लेकिन बहुत अधिक गहरा एवं फैला होने से वर्षा के पानी की घटी हुई न्यून मात्रा प्रतीत नहीं होती जैसे एक ग्लास जल से एक बूंद पानी कम होने से प्रतीत नहीं होता । किन्तु आत्मा उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय तीनों कालों में एकरूप, एकरस ही रहती है।

**प्रश्न १३८ - आत्मा अखंड कैसे है ?**

**उत्तर** - (१) जीव - ईश्वर का भेद (२) जीव-जीव का परस्पर भेद (३) जीव-जड़ का भेद (४) जड़-ईश्वर का भेद तथा (५) जड़-जड़ का परस्पर भेद । इन पाँचों भेद तथा सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित आत्मा होने से आत्मा अखंड है ।

## प्रश्न १३९ - ब्रह्मरूप आत्मा अनन्त कैसे है ?

**उत्तर** - जिस पदार्थ का देश द्वारा अन्त न आवे उसे व्यापक कहते हैं । आत्मा व्यापक है इसलिये आत्मा का देश से अंत नहीं है और यदि आत्मा ब्रह्म से भिन्न हो तो उसका देश से अन्त आना ही होगा । और जिस वस्तु का देश से अंत मालूम पड़ता है उसका काल से भी अवश्य अंत होना ही चाहिये ऐसा नियम है । इस वास्ते यदि आत्मा देश, काल से अन्त वाला होगा तो वह अनित्य होगा। क्योंकि जिसका काल से अन्त आता है उसे अनित्य कहते हैं । इस वास्ते आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

और यदि ब्रह्म से भिन्न आत्मा न मानकर आत्मा से ब्रह्म को भिन्न मानेंगे तो ब्रह्म घट-पटादि पटादि पदार्थों की तरह जड़ अनात्मा ठहरेगा । इससे आत्मा से भिन्न ब्रह्म नहीं किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है । इस प्रकार आत्मा व्यापक होने से देश से अंत नहीं और देश से अंत नहीं इसलिये काल से भी अन्त नहीं अर्थात् आत्मा नित्य है ।

आत्मा समस्त वस्तुओं का अधिष्ठान होने से सब का स्वरूप है। इसलिये आत्मा का वस्तु से भी अन्त नहीं है । इस प्रकार आत्मा देश काल, और वस्तु से अन्त नहीं, इसीसे आत्मा अनन्त है । आत्मा सच्चिदानन्द श्रुति युक्ति और अनुभव से सिद्ध है । ब्रह्म को भी शास्त्र (उपनिषदों) में सच्चिदानन्द कहा है । इस प्रकार ब्रह्मरूप आत्मा है ।

## प्रश्न १४० - कूटस्थ आत्मा कैसे है ?

**उत्तर** - कूट नाम सोनार या लोहार के अहिरन का है । उसकी तरह जो निर्विकार अचल रूप से स्थित होवे वही कूटस्थ कहलाता है। मन द्वारा अनेक ऊचनीच कर्म होने से ऊचं नीच योनियों में जाने से भी आत्मा ज्यों की त्यों निर्विकार ही रहती है ।

जैसे सोनार लोहार अहिरन पर नाना प्रकार के आभूषण व अस्त्र, शस्त्र बनाना है तो भी अहिरन ज्यों का त्यों रहता है । इसलिये

आत्मा कूटस्थ है। कूटस्थ कहने का तात्पर्य अचल, अक्रिय और निर्विकार अव्यव अर्थ से है ।

**प्रश्न १ ४१ - स्वयं प्रकाश आत्मा कैसे है ?**

**उत्तर -** जो सूर्य की तरह अपने प्रकाशित होने के लिये किसी की भी अपेक्षा नहीं करे और आप सबका प्रकाशक हो वही स्वयं प्रकाश कहलाता है । ऐसा अपना आत्मा ही है इसलिये आत्मा स्वयं प्रकाश है। अथवा जो सदा अपरोक्ष होवे व किसी ज्ञान का विषय न होवे याने किसी के जानने में न आवे वह स्वयं प्रकाश है । क्योंकि आत्मा सदा अपरोक्ष है और प्रकाश रूप होने से किसी भी ज्ञान का विषय नहीं है । इस वास्ते अपना आत्मा स्वयं प्रकाश है ।

**प्रश्न १४२ - आत्मा साक्षी कैसे है ?**

**उत्तर -** लोक व्यवहार में उदासीन याने राग-द्वेष से रहित हो, समीपवर्ती हो, दूर न हो और चेतन हो वह साक्षी कहलाता है । ऐसा अपना आत्मा है क्योंकि देहादिक से उदासीन है, समीपवर्ती है और चेतन है इसलिये आत्मा साक्षी है ।

**प्रश्न १४३ - वेद में दो प्रकार के वाक्यों का निरूपण क्यों किया है ?**

**उत्तर -** वेद में दो प्रकार के वाक्यों का निरूपण इसलिये हुआ है कि जो व्यक्ति बहिर्मुख है उसको अन्तर्मुख करने के लिये कर्म की स्तुति रूप वाक्य रचे हैं, और जो कर्म में फँसे हैं उनको कर्म से निवृत्ति कराने के लिये कर्म के फलों को अनित्य कहा है । वास्तविक में तो वेद के समस्त वाक्यों का निवृत्ति में ही तात्पर्य है, प्रवृत्ति में नहीं । जो प्रवृत्ति बोधक वाक्य हैं उनका भी ऐसा प्रयोजन है कि स्वाभाविक होने पर भी निषिद्ध प्रवृत्ति से मनुष्यों को रोकने और विहित प्रवृत्तियों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने के बाद फिर वह प्रवृत्ति से भी हटा कर मनुष्य को ज्ञाननिष्ठ करना है ।

**स्थान** - स्थान पर वेद में जो अर्थवाद रूप जो कर्म का फल कथन किया है उसमें भी वेद का तात्पर्य फल की सत्यता में नहीं किन्तु पाप की निवृत्ति द्वारा चित्त की शुद्धि करने में तात्पर्य है । स्वर्ग आदि फलों के सत्य रूप से प्राप्ति कराने में नहीं है । जैसे माँ बच्चे को पेड़े में रख कर कड़वी औषधि खिलाती है । बच्चे को पेड़ा खाने का प्रलोभन देकर दवा खिलाकर रोग से निवृत्त कराना ही लक्ष्य है । वैसे ही वेद में कर्मों के फल का प्रलोभन मात्र दिया है । तात्पर्य तो चित्त-शुद्धि द्वारा ज्ञान - निष्ठा करना है ।

**प्रश्न १४४ - संसार का कर्ता कौन है ?**

**उत्तर** - संसार का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा स्वतन्त्र ईश्वर है । व्यापक चेतन तथा उसको ढ़कने वाली तथा चेतन के आश्रित रहने वाली माया शक्ति याने सत- असत् से विलक्षण अद्‌भूत शक्ति रूप अज्ञान (माया) से जगत् की उत्पत्ति और लय होता है । अर्थात् माया सहित जो चेतन है उसे ईश्वर कहते हैं । वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का हेतु है ।

जगत् अपने आप नहीं होता । यदि कर्ता के बिना जगत् उत्पन्न होता हो तो कुम्भार के बिना घड़ा भी होना चाहिये था, किन्तु ऐसा तो देखने में आता नहीं । इस वास्ते जगत् का कोई कर्ता अवश्य है। और वह कर्ता सर्वज्ञ है क्योंकि जो कार्य का कर्ता होता है वह उस कार्य को तथा उसके उपादान कारण को (सामग्री को) जानकर ही फिर कार्य करता है । इस वास्ते जगत् का कर्ता भी जगत् और जगत् के उपादान को जानता है इस वास्ते वह सर्वज्ञ है ।

वह सर्व शक्ति मान है क्योंकि अल्प शक्ति वाला जीव है । उससे तो इस जगत् की रचना के सम्बन्ध में मन से विचार करना भी सम्भव नहीं है । इस वास्ते ऐसे अद्‌भूत जगत् का कर्ता अद्‌भूत शक्ति वाला होना चाहिये और ऐसा ईश्वर ही है । वह स्वतंत्र भी है क्योंकि

अल्प शक्ति वाला जो होता है वह पराधीन होता है किन्तु सर्व शक्ति वाला पराधीन नहीं होता । इस प्रकार सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ स्वतन्त्र ईश्वर ही सृष्टि कर्ता है । और वह ईश्वर व्यापक और नित्य है । यदि ईश्वर को एक स्थल में मानेंगे तो वह देश से अन्त वाला होने से काल से भी अन्त वाला होगा और देशकाल से अन्तवाला होने से अनित्य ही ठहरेगा। जो अनित्य होता है वह अन्य कर्ता द्वारा जन्य होता है और फिर उसका कर्ता अन्य कोई व्यक्ति नहीं बल्कि एक ईश्वर ही मानना पड़ेगा ।यदि ईश्वर न मान व्यक्ति ही मानेंगे तो फिर इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है । अतः ईश्वर व्यापक एवं नित्य है ।

## प्रश्न १४५ - मुक्ति की प्राप्ति किस साधन से होगी ?

**उत्तर -** मुक्ति की प्राप्ति न कर्म से होती है न उपासना करने से ही होती है किन्तु केवल ज्ञान से ही होती है । क्योंकि आत्मा में बन्ध सत्य रूप से होता तो उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान से नहीं होता बल्कि कर्म अथवा उपासना से ही होता । परन्तु आत्मा में बन्ध सत्य नहीं है अपितु रस्सी-सर्प की तरह मिथ्या है । उस मिथ्या की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है । कर्म अथवा उपासना से नहीं होती । जैसे रस्सी का साँप किसी क्रिया से दूर नहीं होता केवल रस्सी के ज्ञान से ही दूर होता है । उसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से प्रतीत हुआ जो बन्धन है वह बन्धन की प्रतीति और अज्ञान आत्मा के ज्ञान से ही दूर होता है ।

## प्रश्न १४६- कर्म तथा उपासना मोक्ष का हेतु क्यों नहीं ?

**उत्तर -** यदि कर्म का फल मोक्ष होगा तो वह मोक्ष अनित्य होगा । क्योंकि ऐसा नियम है जो कर्म का फल होता है वह अनित्य ही होता है। जैसे खेती, व्यापार इत्यादि कर्म का फल अन्न, धन इत्यादि समय के बाद नष्ट हो जाते हैं इसीलिये अनित्य हैं । और यज्ञ, दान, होम आदिक का फल स्वर्ग आदि वे भी अनित्य हैं । जो मोक्ष को कर्म का फल मानेंगे तो मोक्ष भी अनित्य ही होगा । इसलिये कर्म का फल मोक्ष नहीं।

इसी प्रकार उपासना का फल भी मोक्ष नहीं कयोंकि उपासना भी मानस (मन द्वारा) कर्म ही है । यदि उपासना का मोक्ष मानें तो कर्म का फल अनित्य होने से उपासना रूप कर्म का फल मोक्ष भी अनित्य ही होगा।

**प्रश्न १४७ - कर्म का उपयोग कितने प्रकार से लिया जा सकता है ?**

**उत्तर -** कर्म के कर्ता को कर्म के पांच प्रकार का फल मिलता है :- (१) पदार्थ की उत्पत्ति (२) पदार्थ का नाश (३) पदार्थ की प्राप्ति (४) पदार्थ का रूपान्तर (५) पदार्थ में संस्कार ।

**प्रश्न १४८ - क्या मोक्ष प्राप्ति में कर्म के पाँचों फलों में से किसी भी फल की अपेक्षा नहीं है ?**

**उत्तर -** हाँ, इन पाँच प्रकार के कर्मों के फल में से किसी भी प्रकार के फल की मुमुक्षु को अपेक्षा नहीं है। इसलिये मुमुक्षु जन ज्ञान के साधन, श्रवण, मननादि में ही प्रवृत्त होते हैं अनित्य फल रूप कर्म, उपासना में नहीं ।

जैसे कुम्हार के कर्म से कुम्हार को घट की उत्पत्ति रूप उपयोग होता है। उसी प्रकार मुमुक्षु को कर्म से मोक्ष की उत्पत्ति रूप उपयोग सम्भव नहीं है। क्योंकि अनर्थ की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं । और अनर्थ की निवृत्ति आत्मा में नित्य सिद्ध है अर्थात् आत्मा में अनर्थ की निवृत्ति हमेशा ही बनी हुई है । जैसे रस्सी में व्यावहारिक सत्ता वाले सर्प का अभाव रूप साँप की निवृत्ति नित्य सिद्ध है । उसी प्रकार स्वभाव सिद्ध मोक्ष की उत्पत्ति सम्भव नहीं । क्योंकि "जो वस्तु प्रथम से सिद्ध न हो उसकी कर्म से उत्पत्ति होती है।" किन्तु सिद्ध वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। मोक्ष सर्वदा सिद्ध ही है। इस वास्ते उसकी उत्पत्ति कहना नहीं बनता ।

(१) मोक्ष की उत्पत्ति के लिये वेदान्त श्रवण भी साधन नहीं बताया किन्तु "आत्मा नित्य मुक्त है" जीव को मुक्ति हेतु किंचित् भी

साधन कर्तव्य नहीं है यह बात जानने हेतु वेदान्त श्रवण की उपयोगिता है । ऐसा जानने से कर्तव्यता की भ्रान्ति दूर होती है ।

वेदान्त श्रवण करने के बाद भी जिसको कर्तव्यता की प्रतीति होती है उसने फिर तत्त्व अभी समझा ही नहीं है । इस कारण से ही नित्य निवृत्ति रूप जो अनर्थ है उसकी निवृत्ति तथा नित्य प्राप्त आनन्द रूप आत्मा की ही प्राप्ति वेदान्त श्रवण का फल है । इस वास्ते मोक्ष की उत्पत्ति में मुमुक्षु को कर्म के उत्पत्ति रूप फल की जरूरत नहीं है ।

(२) अब कर्म का दूसरा नाश रूप फल की भी मुमुक्षु को आवश्यकता नहीं । जैसे लकड़ी के मारने रूप कर्म से घड़े के नाश करने में उपयोग है । उसी प्रकार मुमुक्षु को कर्म करके अन्य किसी पदार्थ के नाश की तो इच्छा होती नहीं । केवल बन्ध का नाश करने में ही कर्म का उपयोग हो सकता है । आत्मा में बन्ध तो है ही नहीं, लेकिन अज्ञान से बन्ध की मिथ्या प्रतीति मरुस्थल के जल की तरह होती है । अतः उस मिथ्या बन्ध के हेतु अज्ञान की निवृत्ति कर्म करके तो नहीं हो सकती है, किन्तु आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही उस मिथ्या बन्द के हेतु अज्ञान का नाश होता है । इस वास्ते मुमुक्षु को पदार्थ के नाश रूप कर्म के फल की भी आवश्यकता नहीं है ।

(३)अब कर्म का तीसरा प्रकार, प्राप्ति रूप कर्म की भी मुमुक्षु को आवश्यकता नहीं है । जैसे चलते - चलते याने गमन रूप क्रिया से ग्राम की प्राप्ति होती है । उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति रूप उपयोग भी कर्म से नहीं बनता । क्योंकि आत्मा नित्य प्राप्त है तथा उसका मोक्ष नित्य स्वरूप है । जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं उसी प्रकार आत्मा से मोक्ष भिन्न नहीं, किन्तु मोक्ष तो आत्मा का स्वरूप ही है । इस प्रकार आत्मा को मोक्ष प्राप्ति कहना नहीं बनता, बल्कि आत्मा में तो बन्ध है ही नहीं । केवल बन्ध की भ्रान्ति को ही दूर करना मात्र प्रयोजन है । इस वास्ते मोक्ष में प्राप्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को सम्भव नहीं है ।

(४) अब कर्म का चौथा प्रकार, विकार रूप उपयोग भी मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति हेतु सम्भव नहीं । जैसे पाक करने रूप याने भोजन बनाने रूप कर्म से अन्न का अन्यथा विकार रूप उपयोग भोजन बनाने वाले को होता है उसी प्रकार मुमुक्षु को कर्म करने के द्वारा विकार रूप उपयोग मोक्ष हेतु आवश्यक नहीं है । पदार्थ के प्रथम रूप को छोड़कर अन्य रूप की प्राप्ति को विकार कहते हैं । उसे विक्रिया तथा परिणाम भी कहते हैं ।

आत्मा में अन्य कोई विकार तो है नहीं याने उसका कोई दूसरा रूप तो बदलना है नहीं । यदि आत्मा में प्रथम बन्ध मानें और मोक्ष दशा में चर्तुभुज आदिक विलक्षण रूप की प्राप्ति स्वीकार करें तब तो अन्य रूप की प्राप्ति रूप विकार कर्म का उपयोग मुमुक्षु को सम्भव हो सकता है, किन्तु आत्मा को कूटस्थ, निराकार, निर्विकार रूप शास्त्रों में कहा है । याने आत्मा का अन्य रूप नहीं माना गया है । इस वास्ते कर्म द्वारा विकार रूप उपयोग भी कूटस्थ आत्मा में मुमुक्षु को नहीं होता है ।

(५) अब कर्म का अन्तिम पाँचवां संस्कार रूप उपयोग भी मुमुक्षु को सम्भव नहीं हो सकता । जैसे वस्त्र को धोने रूप क्रिया द्वारा मल की निवृत्ति तथा शुद्धता गुण की प्राप्ति रूप संस्कार की भी मुमुक्षु को मोक्ष हेतु आवश्यकता नहीं हो सकती । मुमुक्षु को अन्य कोई मल तो दूर करने की इच्छा नहीं होती इससे आत्मा का मैल दूर करने का ही कह सकते हैं, किन्तु आत्मा तो नित्य शुद्ध है, उसमें मल नहीं होता । इस वास्ते मल की निवृत्ति रूप संस्कार का उपयोग मुमुक्षु को सम्भव नहीं है ।

यदि कहें कि आत्मा में मल भले न हो किन्तु अन्तःकरण में तो पाप रूप मल है । उसकी निवृत्ति हेतु तो कर्म की अपेक्षा है ही, किन्तु मोक्ष की जिसे इच्छा है ऐसा उत्तम जिज्ञासु होने से उसका अन्त: करण तो पूर्व से शुद्ध है ही । शुद्ध अन्त:करण में ही आत्मज्ञान की इच्छा उदित होती है । अत: शुद्ध अन्तःकरण वाले जिज्ञासु को कर्म के संस्कार रूप फल का उपयोग नहीं है ।

यदि कहें कि अज्ञान रूप मल को निवृत्त करने हेतु कर्म की जरूरत है तो यह भी समझना ठीक नहीं हैं, क्योंकि उस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है, अन्य कर्म- उपासना से नहीं । जैसे घर का अंधकार एक मात्र प्रकाश द्वारा ही निवृत्त हो सकता है, अन्य साधन से नहीं । अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म नहीं है । इस वास्ते मुमुक्षु को मल की निवृत्ति रूप संस्कार हेतु भी कर्म का उपयोग सम्भव नहीं है ।

जैसे वस्त्र में (कपड़े में) कुसुम्बा रंग करने में रंगने रूप कर्म का वस्त्र में रक्त गुण की उत्पत्ति रूप संस्कार देने में उपभोग होता है । उसी प्रकार गुण की उत्पत्ति रूप संस्कार हेतु भी मुमुक्षु को कर्म का उपयोग नहीं है । क्योंकि अन्य किसी में तो गुण की उत्पत्ति कहना बनता ही नहीं है । इससे आत्मा में ही गुण की उत्पत्ति कहनी पड़ेगी । किन्तु आत्मा निर्गुण है उसमें गुण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । इस वास्ते मुमुक्षु को गुण उत्पत्ति रूप संस्कार हेतु भी कर्म का उपदेश सम्भव नहीं होता ।

इस प्रकार कर्मों का फल केवल पाँच प्रकार से होता है । और ये पाँचों प्रकार के फल की मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति हेतु आवश्यकता नहीं होती है । इसलिये मुमुक्षओं को कर्म का अनादर कर ज्ञान के साधन श्रवणादिक में ही प्रवृत्त होना चाहिये । उपासना भी मानसिक कर्म होने से उसका फल भी नाशवान है । अत: उससे भी नित्य मोक्ष सम्भव नहीं है ।

फिर कोई परलोक में गमन के अभिलाषी पुरुष कर्मों को करे तो भले करे पर मैं सम्पूर्ण लोकों का स्वरूप किस लक्ष्य को लेकर कर्म, उपासना करूँ ? अर्थात् परलोकार्थ कर्म भी मुझे कर्तव्य नहीं है । कदाचित् कहो कि अपने लिये भले प्रवृत्ति रूप कर्म - उपासना न करे, किन्तु लोक कल्याणार्थ तो करना चाहिये ? तो मेरी दृष्टि में कोई अकल्याण स्वरूप ही नहीं तो फिर किस हेतु से कर्म करूँ ? फिर जिसे

लोक कल्याण करना है वे भले कर्मों को करें शास्त्रों की व्याख्या करें, वेदों को पढ़ावें जो इसका अधिकारी है । मेरा तो इसमें अधिकार नहीं है क्योंकि मैं क्रिया से रहित हूँ अर्थात् वाणी के व्यापार का अकर्ता हूँ ।

कदाचित् कहो कि अपने देह के पोषणार्थ भी तो समस्त क्रियाएँ आप करते हुए दिखते हैं । इससे क्रिया से रहित तो आप हुए नहीं । सो भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच इनकी न मैं इच्छा करता हूँ न इन्हें मैं करता हूँ । यदि द्रष्टा लोग मुझ में कल्पना करें तो उनकी कल्पना से मेरी कोई हानि नहीं हो सकती या अर्थात् मेरे प्रति कोई कुछ भी कल्पना करे उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं ।

**प्रश्न १४९ - कोई आचार्य कर्म, उपासना सहित ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानते हैं यह ठीक है या नहीं ?**

**उत्तर -** यह समुच्चय ठीक नहीं है ।

(१) ज्ञान के साधन श्रवणादिक और कर्म के साधन यज्ञ, पूजा आदिक का एक ही समय अनुष्ठान करने को सम समुच्यय कहते हैं ।

(२) प्रथम अन्तःकरण की शुद्धि वास्ते जिज्ञासा होने तक कर्म करना चाहिये और अन्तःकरण शुद्ध होने से आत्मा को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होने के साथ - साथ कर्म का अनादर करके ज्ञान के साधन श्रवणादिक द्वारा ज्ञान सम्पादन करना इसका नाम क्रम समुच्यय है ।

इनमें से सम - समुच्यय त्याज्य है और क्रम समुज्चय ग्राह्य है ऐसा वेद के आचार्यों का तात्पर्य है । कर्म, उपासना के साथ ज्ञान का विरोध है । इसलिये साथ -साथ नहीं हो सकते हैं क्योंकि आत्मा देह से भिन्न है ऐसा जो नहीं जानता है वह तो परमार्थ सम्बन्धी कोई कर्म करता ही नहीं है । परमार्थ सम्बन्धी कर्म तो दूसरे जन्म में भोग की प्राप्ति की इच्छा से ही किया जाता है और अज्ञानी तो अपने को देहाकार ही जानता है और उस देह का यहीं अग्नि में दाह हो जाता है । इस वास्ते

इस देह रूप अज्ञानी को तो अन्य जन्म में भोग, भोगना सम्भव होता ही नहीं जो वह परमार्थ सम्बन्धी कर्म करे ।

अब कर्म में वे ही लोग प्रवृत्त होते है जो अपने आत्मा को देह से भिन्न किन्तु कर्ता - भोक्ता रूप से जानते हैं कि मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ और पुण्य - पाप का फल मरने पर स्वर्ग-नरक में मुझे मिलेगा । ऐसा जिसको विपरीत ज्ञान होगा वही परलोक में भोग इच्छा रख कर्म करेगा । ज्ञानी पुरुष को आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा विपरीत ज्ञान नहीं होता है । बल्कि पुण्य - पाप और सुख - दुःख से रहित असंग जन्म - मरण से रहित अविनाशी ब्रह्म रूप आत्मा है ऐसा वेदान्त वाक्य से उसे निश्यय होता है । यह ज्ञान कर्म का हेतु नहीं बल्कि विरोधी है । इसलिये ज्ञानवान् कर्म नहीं करता, क्योंकि कर्ता, कर्म और फल आत्मा से भिन्न है ऐसी विपरीत बुद्धि ज्ञानी की नहीं होती है । उसको तो समस्त आत्मा रूप ही प्रतीत होता है । इस प्रकार ज्ञानी कर्म में प्रवृत नहीं होता फिर कर्म का फल अनित्य संसार है और ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है । कर्ता और कर्मफल भेद ज्ञान का हेतु है और भेद ज्ञान भय का हेतु है और ज्ञानी को कर्म का अभाव श्रुति में अनेक जगह प्रतिपादित किया है ।

फिर आत्मा में ब्राह्मणादिक जाति का, ब्रह्मचारी आदिक आश्रम का और जाग्रत, स्वप्नादिक अवस्था का अध्यास होने से ही अज्ञानी मनुष्य कर्तव्य मानकर कर्म में प्रवृत्त होता है । क्योंकि वेद में अमुक जाति, आश्रम एवं अवस्था के भेद से भिन्न - भिन्न कर्म करने का विधान किया है । ज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं होने से वह कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है ।

**प्रश्न १५० - ज्ञानी को कर्म -उपासना करने की कर्तव्यता नहीं है । उसका क्या कारण है ?**

**उत्तर -** देह से भिन्न कर्ता रूप से आत्मा का भान ही कर्म का हेतु है किन्तु आत्मा का कर्ता रूप ज्ञान, भ्रान्ति रूप है और विद्वान् को भ्रान्ति

अज्ञानी की तरह आत्मा में नहीं होती है । इस वास्ते ज्ञानी को कर्म करने में कर्तव्यता नहीं है ।

दूसरी बात जब देह में आत्मबुद्धि याने देह मैं हूँ ऐसी अपरोक्ष बुद्धि हो तब ही देह के धर्म, जाति, आश्रम, अवस्था की प्रतीति आत्मा में होती है, किन्तु ज्ञानी को देह में आत्म-बुद्धि नहीं बल्कि ब्रह्मरूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान है । इस वास्ते देह, जाति, आश्रम सम्बन्ध में अहंबुद्धि नहीं होने से उसकी कर्म में कर्तव्यता (अधिकार) नहीं है ।

तीसरी बात यह है कि उपासना ''मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है'' इस प्रकार की भेदबुद्धि से ही हो सकती है । लेकिन ज्ञानी को ऐसी उपास्य - उपासक-भाव की भेद -प्रतीति नहीं होती । ज्ञानी पुरुष का तो निश्चय ऐसा होता है कि देहादिक समुदाय तो मेरा तथा ब्रह्मलोक के देवता तक का कल्पित ही है और चेतन अंश तो देव, मनुष्य, कीट, पतंग समस्त में एक समान ही है । इस वास्ते ज्ञान के साथ उपासना का विरोध है ।

**प्रश्न २५१ - जैसे पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता वैसे ज्ञानी केवल ज्ञान रूप एक पंख से कैसे मोक्षलोक में जा सकेगा । अत: कर्म- उपासना रूप दूसरा पंख होना चाहिये या नहीं ?**

**उत्तर -** यह बात सत्य है कि दो पंखों से ही पक्षी उड़ता है । उसमें एक पंख से उड़ने की सामर्थ्य नहीं होती किन्तु पक्षी के उड़ने के दृष्टान्त के साथ ज्ञानी के मोक्ष में कोई समानता नहीं । क्योंकि पक्षी के दोनों पंख एक समय में ही उत्पन्न होते हैं । इसलिये उनमें परस्पर विरोध नहीं। किन्तु ज्ञान और कर्म का तो आपस में विरोध है । वे दोनों एक समय में नहीं बन सकते ।

फिर पक्षी को तो उड़कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचना होता है । ज्ञानी का मोक्ष किसी लोक विशेष में पहुँचने पर नहीं है । उसमें

पक्षी की तरह मार्ग - गमन रूप क्रिया नहीं होती बल्कि मोक्ष तो आत्मा का स्वरूप ही है । यदि मोक्ष को लोक विशेष में मानेंगे तो वह एक देशीय होने से देश से अन्तवाला होगा और जिसका देश से अन्त होता है उसका काल से भी अन्त हो जाता है ऐसा नियम है । और जो देश, काल से अन्तवाला होता है वह पदार्थ अनित्य ही होता है । इससे तो मोक्ष अनित्य ही ठहरेगा किन्तु शास्त्रों में तो मोक्ष को आत्मा का नित्य स्वरूप ही कहा है । अतः कहीं लोक विशेष में जाना नहीं पड़ता इसलिये सम - समुच्चय नहीं हो सकता है । ज्ञानवान् के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता ऐसा वेद में स्पष्ट कहा है । फिर वेद विरूद्ध बात चाहे कोई भी कहे वह त्याज्य ही है । मोक्ष को लोक विशेष मानेंगे तो वह स्वर्ग की तरह अनित्य ही होगा । शास्त्र में तो केवल ज्ञान से ही मोक्ष कहा है । कर्म - उपसना के साथ ज्ञान मोक्ष का हेतु कहीं पर भी नहीं कहा है ।

**प्रश्न १५२ - पापनाश रूप फल में जैसे सेतु दर्शन के साथ श्रद्धा, नियम, गमनादिक की अपेक्षा है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के फल मोक्ष की उत्पत्ति में भी कर्म उपासना की जरूरत मानें तो ठीक होगा या नहीं ?**

**उत्तर :-** यह बात तो सत्य है कि सेतु दर्शन का फल प्रत्यक्ष (दृष्ट) तो किसी को होता नहीं, किन्तु शास्त्र द्वारा जानकर ही अदृष्ट रूप (परोक्ष मरने के बाद) फल होता है ।

(१)जिस फल की प्रतीति प्रत्यक्ष नहीं होती किन्तु शास्त्र द्वारा जानने में आती है उसे अदृष्ट फल कहते हैं । जैसे सेतु के दर्शन से पाप का नाश रूप फल या यज्ञादि शुभ कर्म का फल स्वर्ग प्राप्ति आदि ।

(२) जिस फल की प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है वह दृष्ट फल कहलाता है । जैसे भोजन द्वारा तृप्ति या अंगछेदन द्वारा पीड़ादि । तो जिस प्रकार यज्ञादि कर्म स्वर्गादिक अदृष्ट फल के हेतु है उसी प्रकार सेतु

का दर्शन भी पापनाशरूप अदृष्ट फल का ही हेतु है । और जिस कर्म का फल शास्त्र द्वारा जानने में आता है वह फल उस शास्त्रनुसार पुर्ण विधि, सामग्री, नियम, श्रद्धा आदि जितने भी सहायक कर्म कहे हैं उनके अनुसार ठीक-ठीक कर्म होने पर ही फल का हेतु है । किन्तु किसी के कम होने से फल नही होता । अत: सेतु दर्शन प्रत्यक्ष फल का हेतु नहीं है । और ज्ञान तो प्रत्यक्ष फल का हेतु है इसलिये इन दोनों का दृष्टान्त नहीं बन सकता । क्योंकि ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष की उत्पत्ति में कर्म, उपासना की अपेक्षा नहीं रहती । हाँ, यदि ब्रह्मविद्या का फल शास्त्र मे स्वर्ग की तरह कोई लोक विशेष अदृष्ट होता और वह लोक विशेष भी केवल ब्रह्मविद्या द्वारा नहीं मिल सकता, ऐसा यदि प्रतिपादन किया होता तब तो मोक्ष की प्राप्ति में कर्म, उपासना की अपेक्षा रखनी पड़ती । जैसे कि सेतु दर्शन के फल में श्रद्धा, भक्ति, नियम आदि की अपेक्षा से ही पापनाश रूप फल प्राप्त होता है । किन्तु ब्रह्मविद्या का फल जो मोक्ष है वह स्वर्ग की तरह लोकविशेष रूप अदृष्ट नहीं है । लेकिन मोक्ष तो नित्यप्राप्त है और भ्रान्ति से बन्ध प्रतीत होता है । उस भ्रान्ति की निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है और उसकी निवृत्ति ब्रह्मविद्या द्वारा ज्ञानियों को प्रत्यक्ष है । जैसे रस्सी के ज्ञान होने से सर्प की भ्रान्ति निवृत्ति सर्व को प्रत्यक्ष है । इस वास्ते अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रान्ति की निवृत्ति यह दृष्ट फल है ।

जैसे रज्जु का ज्ञान सर्प की भ्रान्ति की निवृत्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है उसी प्रकार बन्धरूप भ्रान्ति का अधिष्ठान जो नित्य मुक्त आत्मा है उसका ज्ञान भी बंधरूप भ्रान्ति की निवृत्ति में कर्म तथा उपासना की अपेक्षा नहीं रखता है ।

**प्रश्न १५३ - जैसे ज्ञान का हेतु कर्म- उपासना है वैसे ही ज्ञान का फल मोक्ष में भी कर्म - उपासना ही हेतु क्यों न माना जाय ?**

**उत्तर :-** यह बात तो ठीक है कि अन्तःकरण की शुद्धि हेतु निष्काम कर्म तथा चित्त की एकाग्रता हेतु उपासना जरूरी है, क्योंकि शुद्ध एवं स्थिर अन्तःकरण में ही ज्ञानोदय होता है । चंचल एवं मलिन अन्त:करण में

ज्ञान उदित नहीं होता है । अतः कर्म और उपासना का ज्ञान की उत्पत्ति में तो उपयोग है, किन्तु ज्ञान कि उत्पत्ति के बाद जिज्ञासु को श्रवणादिक के विरोधी ऐसे कर्म व उपासना का त्याग ही करना चाहिये । हाँ, जब तक अन्तःकरण में मल तथा विक्षेप दोष है तब तक तो कर्म, उपासना करना चाहिये । मल दोष नाम पाप का है और वह अशुभ वासना का हेतु है । जहाँ तक मल दोष होगा वहाँ तक मन में अशुभ वासना भी बनी रहेगी । जब पुरुष पूर्व या इस जन्म में निष्काम कर्म कर लेता है तो उसके मन से अशुभ वासना निकल जाती है । तब यह जान लेना चाहिये कि मल दोष निवृत्त हो गया है - अब कर्मों में अधिकार नहीं है। फिर उपासना द्वारा जब चित्त एकाग्र होकर आत्मा को जानने की इच्छा का उदय हो जावे तो उपासना से भी अब कुछ प्रयोजन नहीं रहा। क्योंकि उसका फल-आत्मा को जानने की इच्छा वह तो हस्तगत है ही। ऐसा जिज्ञासु की निश्चय कर ज्ञान में ही श्रद्धा बढ़ानी चाहिये न कि ज्ञान के विरोधी कर्म - उपासना में ।

**मुर्खों का अमान्य सिद्धान्त :-** इसमें कोई-कोई भेदवादी जल सिंचन का दृष्टान्त देते हैं कि जैसे वृक्ष की उत्पत्ति में जल सिंचन हेतु है तथा जल वृक्ष के फल का भी हेतु है । जल के सिंचन न करने से उत्पन्न वृक्ष भी सूख जाता है । जो वृक्ष बिना पानी दिये भी जीवित दिखते हैं वे भी नीचे गहराई से जड़ों द्वारा पानी पाते रहते हैं । उसी प्रकार कर्म, उपासना ज्ञान की उत्पत्ति में तो हेतु है ही और ज्ञान का फल जो मोक्ष है उसमें भी हेतु अवश्य होंगे ।

लेकिन उनका यह वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं है । यद्यपि जलके सिंचन से वृक्ष की उत्पत्ति तथा रक्षण होता है । फिर भी वृक्ष में फल आने का हेतु जल सिंचन नहीं है । क्योंकि फल देने वाले जूने वृक्ष में जल सिंचन से भी फल नहीं आते हैं और कई ऐसे वृक्षादि हैं जो जीवन भर फल ही नहीं देते हैं । फिर जब जल सिंचन ही वृक्ष में फल का हेतु है तो कोई वृक्षादि २-४ माह, कोई १ वर्ष, कोई ३-५-१०

वर्ष में फल क्यों देते है ? अतः जल सिंचन वृक्ष की उत्पत्ति में ही सहायक है, फल देने के संस्कार वाला पुष्ट हुआ वृक्ष ही फल का हेतु है, प्रत्येक वृक्ष नहीं ।

इसी प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान की उत्पत्ति में तो हेतु है क्योंकि ये अन्तःकरण को ज्ञान के उपयोगी बना देते हैं । फिर दृढ़ ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है न कि कर्म एवं उपासना । बल्कि कर्म और उपासना तो उत्पन्न ज्ञान के विरोधी हैं ।

**प्रश्न १५४ - कर्म, उपासना से मोक्ष भले न माने किन्तु वे ज्ञान का रक्षण तो करते हैं । यह मानने में क्या आपत्ति है ?**

**उत्तर :-** हाँ, बहुत मन्दबुद्धि वाले पुरुष ऐसा तर्क रखते हैं कि जल से उत्पन हुआ वृक्ष जल से ही रक्षण पाता है । यदि वृक्षों के भीतर अथवा बाहर से जल का सम्बन्ध न हो तो उत्पन्न हुआ वृक्ष भी सूख जाता है । उसी प्रकार कर्म - उपासना से उत्पन्न हुआ ज्ञान कर्म और उपासना द्वारा ही रक्षण होता है । यदि ज्ञान उदय होने के बाद ज्ञानी कर्म, उपासना नहीं करेगा तो कर्म के अभाव में अन्त:करण फिर मलिन हो जावेगा व उपासना के अभाव में चित्त पुन: चंचल हो जाने से उत्पन्न ज्ञान भी पुन: नष्ट हो जावेगा । इसलिये ज्ञानी को कर्म, उपासना ज्ञान रक्षार्थ ही करनी चाहिये ।

लेकिन उनका ऐसा कथन हँसने योग्य ही है । ऐसा कहने वालों ने ज्ञान का स्वरूप ही नहीं समझा है । ज्ञान दो प्रकार का होता है - एक तो सामान्य ज्ञान जो आत्मा का स्वरूप ही है और वह ज्ञान नित्य है उसका न तो नाश होता है और न उसके रक्षण हेतु कर्म, उपासना की ही जरूरत है । क्योंकि कर्म करना चाहिये, उपासना करना चाहिये ऐसे कथन में भी यह ज्ञान तो पूर्व सिद्ध (मौजूद) ही है । यदि स्वरूप ज्ञान ना हो तो ऐसा कथन भी असम्भव होगा ।

अब रहा दूसरा ज्ञान जिसे विशेष ज्ञान कहते हैं । जो चेतन सहित अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति में वेदों के महावाक्य गुरु द्वारा श्रवण करने से उदय होता है कि ''मैं असंग ब्रह्म हूँ'', ''मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ'' इत्यादि वृत्ति ही वेदान्त श्रवणादिक का फल रूप ज्ञान है । ऐसी एक बार उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा अज्ञान और भ्रान्ति के नाश रूप फल उसी समय सिद्ध हो जाता है । और अज्ञान व भ्रान्ति के नाश हो जाने के बाद तत्त्वज्ञानी को उस अज्ञान नाशक वृत्ति के रक्षण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है । जैसे एक बार अच्छी प्रकार जली हुई रस्सी को और जलाने हेतु अग्नि के रक्षण की आवश्यकता नहीं रहती । उसी प्रकार एक बार भली प्रकार देहभाव निवृत्त हो जाने पर फिर ब्रह्माकार वृत्ति की बार - बार आवृति करने का कोई जरूरत नहीं। क्योंकि जिस ज्ञान द्वारा अविद्या तथा अविद्या के कार्य का बाध याने प्रतीति होते हुए भी निवृत्त रूप निश्चय हो जाने से वे उसी तत्त्वज्ञान को बाध याने नाश नहीं कर सकते जिसके द्वारा वे स्वयं प्रथम ही मारे जा चुके हैं । तत्त्व ज्ञान होने पर अविद्या के कार्य भले नेत्र से दिखते रहें परन्तु वे बोध को क्षति नहीं पहुंचा सकते । जैसा जीवित चूहा बिल्ली को नहीं मार सकता तब उसी प्रकार नष्ट हुआ अज्ञान ज्ञान को कैसे नष्ट कर सकता है ?

फिर अन्तःकरण की जो ब्रह्माकार वृत्ति वेदान्त के श्रवण के फलरूप उत्पन्न हुई है उस वृत्ति का कर्म एवं उपासना से रक्षण भी नहीं हो सकता । क्योंकि जिस समय जिज्ञासु कर्म, उपासना का अनुष्ठान करना चाहेगा उस समय उसकी प्रथम ब्रह्माकार अद्वैत वृत्ति ''सर्व ब्रह्म है'' जो चल रही थी उसे यह नष्ट कर ही दूसरी द्वैत वृत्ति कर्म, उपासना को सामग्री वाली उदय होगी और अखंड सोऽहम्, शिवोऽहम् ब्रह्मज्ञान उस वक्त नहीं रह सकेगा । क्योंकि जब दूसरी वृत्ति उत्पन्न होती है तब प्रथम वृत्ति स्वत: लय हो जाती है, यह सबका अनुभव सिद्ध है ही । इस वास्ते कर्म व उपासना क्रम समुच्चय से याने परम्परा से तो ज्ञान में

सहायक है किन्तु उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति के विरोधी है । इसलिये कर्म - उपासना से ज्ञान का रक्षण नहीं हो सकता ।

**प्रश्न १५५ - कर्म के त्याग करने से ज्ञानी को भी पाप लगता है या नहीं ?**

**उत्तर -** ज्ञानी को तो हर प्रकार से पाप का संग होता ही नहीं । क्योंकि पाप - पुण्य तथा उसका आश्रय जो अन्तःकरण अज्ञानी की दृष्टि से है वह परमार्थ से याने वास्तविक रूप से ज्ञानी के लिए तो है ही नहीं । केवल अविद्या के कारण अज्ञानी को मिथ्या प्रतीति होती है उस अविद्या तथा उसके कार्य मिथ्या प्रपंच की प्रतीति ज्ञानी को कभी नहीं होती है । इस वास्ते ज्ञानी को शुभ कर्म के त्याग से अथवा अशुभ कर्म के करने से पाप नहीं होता । ज्ञानी को या अज्ञानी को शुभ कर्म के त्याग से पाप रूप फल नहीं हो सकता । क्योंकि कर्म न करना यह अभाव रूप हुआ और पाप होना यह भाव रूप हुआ । भगवान श्रीकृष्ण ने गीता अध्याय २ श्लोक १६ मे स्पष्ट कहा है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अत: कर्म के त्याग से पाप नहीं होता किन्तु अशुभ याने निषिद्ध कर्म के करने से ही अज्ञानी को पाप रूप फल होता है । ज्ञानी की दृष्टि में तो कर्ता, कर्म तथा फल की प्रतीति आत्मा से भिन्न कुछ होती ही नहीं, इसलिये दृढ़-ज्ञानी सदा निष्पाप है ।

**प्रश्न १५६ - विशेष ज्ञान कितने प्रकार का होता है और उसका क्या फल है ?**

**उत्तर :-** विशेष ज्ञान का आधार चिदाभास है और यह ज्ञान दो प्रकार का होता है - (१) मंदज्ञान (२) दृढ़ज्ञान ।

(१) संशय विपर्यय सहित जो ज्ञान होता है उसे मंद ज्ञान कहते हैं । याने जीव-ब्रह्म की एकता सत्य है या भेद सत्य है । आत्मा कर्ता-भोक्ता है या अकर्ता-अभोक्ता है, ऐसे संशय वाले ज्ञान को मंद ज्ञान कहते हैं ।

(२) संशय विपर्यय से रहित जो आत्मा का अपरोक्ष बोध होता है कि ''मैं असंग ब्रह्म हूँ'' इस ज्ञान को दृढ़ ज्ञान कहते हैं ।

जिसको दृढ़ज्ञान हो गया है उसके लिये तो किंचित् मात्र भी कर्तव्य नहीं ''तस्य कार्यं न विद्यते'' । गीता श्रुति तत्त्वज्ञानी को समस्त कर्तव्यता से मुक्त बताती है । क्योंकि एक बार अच्छी प्रकार से संशय विपर्यय से रहित अन्तःकरण की ''मैं असंग ब्रह्म हूँ'' ऐसी वृत्ति रूप दृढ़ज्ञान ही अविद्या का नाश कर देता है । यदि यह वृत्ति ज्ञान प्रारब्धवश प्रपंच में प्रवृत्त हो जाने से भूल भी जावे तो भी अच्छी तरह अपने आत्मस्वरूप को जान लेने के बाद मैं देह हूँ, कर्ता - भोक्ता हूँ ऐसी भ्रान्ति तो कभी भी उसे उत्पन्न हो ही नहीं सकती ।

मुमुक्षुओं को यह बात ध्यान में रखने जैसी है कि ब्रह्माकार वृत्ति के टूट जाने से व देहादिक क्रिया में प्रवृत्त होने से बन्धन या मोक्षकी क्षति नहीं है । किन्तु विपरीत बुद्धि ही बन्धन का हेतु है याने अपने को देह रूप से मानना ही बन्धन का हेतु है ।

अतः भ्रान्ति का कारण जो अज्ञान है वह एक बार उत्पन्न हुए दृढ़ज्ञान से नष्ट हो जाता है । इसलिये फिर से वह अज्ञान उसी प्रकार उदय नहीं हो सकता है, जैसे जला हुआ बीज पुनः अंकुरित नहीं हो सकता है । इस वास्ते तत्त्वज्ञानी को अन्तःकरण की सोऽहम्, शिवोऽहम्, अंसगोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि आदि वृत्तिरूप ज्ञान की आवृति मंत्र, जपादि की तरह पुनः-पुनः अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि उन्होंने परमात्मा को मैं रूप में अनुभव कर लिया है । किन्तु उपासकों को तो निरन्तर अभ्यास रखना ही पड़ता है, क्योंकि उनका भगवान उनसे अन्य कल्पित किया गया है । ज्ञान में मुमुक्षुओं को यह चिन्ता नहीं सताती कि उनकी वृत्ति अनात्माकार क्यों हो गई । किन्तु भक्त भगवदाकार बुद्धि नष्ट होने से पश्चाताप करते है ।

**प्रश्न १५७ - जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द हेतु तो उपासना करनी पड़ेगी या नहीं ?**

**उत्तर -** जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द का अनुभव करने के लिये उपासना करना कर्तव्य नहीं है । यदि कहो कि बिना उपासना के वृत्ति की एकाग्रत्ता नहीं होगी एवं एकाग्रता बिना आनन्द नहीं होगा तो यह समझना भी भूल है । क्योंकि केवल वृत्ति के एकाग्र होने से विलक्षण आनन्द नहीं आता, बल्कि ब्रह्माकार वृत्ति से ही आनन्द आता है । और उसमें भी उस ब्रह्माकार वाली वृत्ति की आवृत्ति ही करना जरूरी रहती है तब भी उसे वेदान्त के अर्थ जीव - ब्रह्म की एकता का ही चिन्तन करना कर्तव्य है । वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करते रहने से ही ब्रह्माकार वृत्ति ही होती है, किन्तु कर्म एवं उपासना से ब्रह्माकार वृत्ति तो कभी हो ही नहीं सकती

कर्म तथा उपासना का तो केवल अन्तःकरण की शुद्धि तथा एकाग्रता में ही उपयोग है । अन्य किसी प्रकार उसका उपयोग नहीं होता है । और ज्ञानी के अन्तःकरण में पाप तथा चंचलता नहीं होती, क्योंकि पाप एवं चंचलता का कारण राग-द्वेष और राग -द्वेष का कारण जो अज्ञान है वह अज्ञान (अविद्या) ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाने से ज्ञानी को पाप तथा चंचलता के अभाव में कर्म तथा उपासना करने का कोई उपयोग नहीं है।

**प्रश्न १५८- ज्ञानी को अन्तःकरण की चंचलता से विदेह मोक्ष में तो कोई बाधा नहीं पड़ती है, किन्तु स्वरूप आनन्द के भान हेतु तो उपासना करना कर्तव्य ही है ?**

**उत्तर -** यह बात तो अवश्य सत्य है कि अन्त ःकरण की चंचलता जीवनमुक्ति के आनन्द की विरोधी है, किन्तु जिसको दृढ़ बोध हो चुका है उस ज्ञानी की दृष्टि में समाधि तथा विक्षेप दोनों समान ही रहते है; क्योंकि समाधि तथा विक्षेप दोनों विकारी मन के धर्म हैं । इससे विक्षेप याने चंचलता की निवृत्ति तथा समाधि से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं है।

जिसने अन्तःकरण की स्थिति रूप अपने को जाना है वही अज्ञानी विक्षेप पर दुःखी एवं समाधि पर सुखी होता रहेगा । ज्ञानी तो विक्षेप तथा समाधि का भी साक्षी होने से उसको अन्तःकरण की स्थिरता हेतु ध्यान व समाधि आदि किसी भी प्रकार के बाह्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

**प्रश्न १५९- ज्ञान हो जाने के बाद ज्ञानी को संसार में प्रवृत्ति होती है या नहीं ?**

**उत्तर -** ज्ञानी की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रारब्ध के आधीन होती हे और प्रारब्ध कर्म सब ज्ञानियों का समान नहीं होता ।

(१) किसी ज्ञानी का प्रारब्ध तो राजा जनक, प्रह्लाद, ध्रुव, शिखरध्वजादि की तरह भोग भोगने के लिये होता है ।

(२) किसी ज्ञानी का प्रारब्ध शुकदेव, ज्ञानदेव, वामदेव आदि की तरह निवृति परायण ही होता है ।

अब जिसका प्रारब्ध भोग प्रधान है ऐसे ज्ञानी को भोग एवं भोग की इच्छा तथा उसके प्राप्ति हेतु यत्न भी वह करेगा और जिसका प्रारब्ध निवृत्ति प्रधान है उसे तो भोगों से ग्लानि तथा जीवनमुक्ति के सुख की ही इच्छा होती है ।

अब जिसको जीवन - मुक्ति के आनन्द की इच्छा हो उसे ब्रह्माकार वृत्ति की ही आवृत्ति करना अपेक्षित है और उस वृत्ति हेतु वेदान्त के अर्थ का चिन्तन याने जीव - ब्रह्म एकत्व विचार ही करना चाहिये, किन्तु उपासना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि अन्तःकरण की निश्चलता मात्र से ब्रह्मानन्द का विलक्षण (विशेष रूपसे) आनन्द नहीं होता है । परन्तु ब्रह्माकार वृत्ति से ही उत्पन्न होता है और वह ब्रह्माकार वृत्ति केवल वेदान्त चिन्तन से ही हो सकती है । उसके लिये कर्म तथा उपासना साधन किंचित् भी नहीं है । ज्ञानी को अन्तःकरण की चंचलता

दूर करने हेतु भी वेदान्त चिन्तन ही कर्तव्य है क्योंकि वेदान्त चिन्तन से ही चित्त तत्काल स्थिर हो जाता है । इसलिये दृढ़ज्ञानी की कर्म तथा उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती, जिसे सद्गुरु द्वारा यह गोपीनीय तत्त्व का श्रवण नहीं हुआ उसे तो कर्म, उपासना मुमुक्षता जगने तक करना ही होगी ।

अवश्य ही तत्त्वज्ञान काल में दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं है । कोई समझे कि तत्त्वज्ञान के साथ उपासना होती रहेगा, योग होता रहेगा, धर्मानुष्ठान भी होता रहेगा तो ऐसा नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति और उपास्याकार वृत्ति एक साथ नहीं रह सकती । धर्माकार वृत्ति, निरोधाकार वृत्ति के परिणाम स्वरूप महावाक्य जन्य आत्मा एवं ब्रह्म की एकता रूप ज्ञान की वृत्ति उदय होती है । अतः ज्ञान तो सब साधनों के फल स्वरूप उत्पन्न होता है और वह अकेला ही रहता है । इसलिए वह कैवल्य है ।

**प्रश्न १६० - जिसे दृढ़ ज्ञान हो उसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा जिसको दृढ़ ज्ञान न हो उसे उपासना करनी चाहिये या नहीं ?**

**उत्तर -** जिसको मंद बोध याने अपने स्वरूप में संशय, विपर्यय हो तो ऐसे पुरुष को भी मनन तथा निदिध्यासन ही करना चाहिये पर कर्म व उपासना तो नहीं करना चाहिये । मंदबोध वाले उत्तम जिज्ञासु के लिये मनन व निदिध्यासन को छोड़ अन्य साधन कर्तव्य नहीं है । और दृढ़ ज्ञानी पुरुष को तो मनन तथा निदिध्यासन की भी जरूरत नहीं है । जो ज्ञानी पुरुष जीवन मुक्ति के आनन्द हेतु मनन तथा निदिध्यासन में प्रवृत्त होते हैं वे भी अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं, कर्तव्यता से नहीं । याने उसे अज्ञानी की तरह ऐसा भय एवं जन्म-मरण की बुद्धि तो होती नहीं है कि मैं यदि वेद नहीं मानूँगा तो मुझे जन्म-मरणादि संसार की प्राप्ति होगी । और ऐसी बुद्धि से जो क्रिया करता है वही कर्तव्य कहलाता है ।

यदि कहो कि अन्य फलों की इच्छा के अभाव से कर्म-उपासना का अनुष्ठान न करे किन्तु तत्त्वज्ञान के रक्षक श्रवणादिक तो करने ही पड़ेंगे तो यह समझना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसने अपने स्वरूप को भली प्रकार से नहीं जाना है ऐसे अज्ञानी ही सुने, किन्तु भली प्रकार जानता हुआ मैं (दृढ़ ज्ञानी) क्यों सुनूँ ? और जिसे तत्त्व के प्रति संदेह हो वह मनन करे किन्तु मैं (दृढ़ ज्ञानी) संशय से रहित मनन किस हेतु से करूँ ? तात्पर्य यह है कि जिसे आत्मतत्त्व का दृढ़ बोध नहीं हुआ है ऐसा मंद जिज्ञासु ही श्रवण, मनन अवश्य करे, किन्तु संशय से रहित ज्ञानी अज्ञान के अभाव से श्रवण, मनन आदिका कर्ता भी नहीं है ।

यदि कहो कि श्रवण, मनन तो भले न करे किन्तु विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिये निदिध्यासन तो ज्ञानी को अवश्य करना चाहिये । सो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जिसे देह में आत्मबुद्धि हो वही विपरीत ज्ञान की निवृत्ति हेतु निदिध्यासन करे । ज्ञानी तो कभी भी देह में आत्मभावना नहीं करता है । वह फिर किस हेतु से निदिध्यासन करना चाहेगा ? अर्थात् तत्त्वज्ञानी के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन किंचित् भी कर्त्तव्य नहीं है किन्तु मन्द जिज्ञासु के लिये कर्तव्य है।

## प्रश्न १६१ - जिसको आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा हो वह क्या करे ?

**उत्तर** - जिसे आत्मा को जानने की तीव्र इच्छा हो व भोग में रुचि न हो, उसका अन्तःकरण तो शुद्ध ही है इसलिये वह भी उत्तम जिज्ञासु है । उसको भी ज्ञान के लिये श्रवणादिक साधन का ही उपयोग कर्तव्य है । कर्म-उपासना करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि कर्म, उपासना का जो फल अन्तःकरण की शुद्धि तथा स्थिरता है वह तो उसको पूर्व से प्राप्ति ही है । बिना चित्त शुद्धि एवं स्थिरता के आत्म जिज्ञासा जाग्रत होती ही नहीं है । वह अगर श्रवणादिक को छोड़ उपासना में ही लगा रहेगा तो आत्मा के जानने की जो इच्छा जाग्रत हुई थी वह भी धीरे-धीरे फिर नष्ट हो जावेगी ।

**प्रश्न १६२ -भोग में आसक्त तथा साधारण इच्छा से श्रवण में प्रवृत्त पुरुष तो कर्म, उपासना का अधिकारी है या नहीं ?**

**उत्तर -** ज्ञान की सामान्य इच्छा से जो श्रवण में प्रवृत्त हो गया है ऐसे भोगासक्त को मंद जिज्ञासु कहते हैं । उसे भी श्रवण को छोड़कर फिर से कर्म-उपासना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये । कयोंकि कर्म-उपासना का फल जो अन्तःकरण की शुद्धि तथा स्थिरता है वह उसे वेदान्त श्रवण से ही प्राप्त हो जावेगी । बारम्बार के श्रवण से अन्तःकरण के दोष दूर होकर इस जन्म या दूसरे जन्म में ज्ञान द्वारा मोक्ष हो ही जावेगा । जो व्यक्ति साधारण या तीव्र इच्छा को लेकर श्रवण में प्रवृत्त होकर भेदवादी संत के वचन सुनकर या बुद्धि की मंदता के कारण श्रवण को छोड़कर कर्म-उपासना में प्रवृत्त होता है उसे आरूढ़ पतित कहते हैं याने मोक्ष की सीढ़ी ऊपर चढ़कर फिर नीचे गिर पड़ता है।

इस प्रकार (१) दृढ़ज्ञानी के लिये कर्म और उपासना का अधिकार नहीं है । (२) अदृढ़ज्ञानी उत्तम जिज्ञासु को भी नहीं है । (३) मंद जिज्ञासु यदि श्रवण में लगा है तो उसे भी जरूरत नहीं है । (४) ज्ञान की जिसे इच्छा तो है किन्तु भोग में आसक्त होने से श्रवण में जो प्रवृत्त नहीं हो पाता हो वह निष्काम कर्म और उपासना करे । (५) जिसे ज्ञान की इच्छा नहीं वह सकाम कर्म करे और जिसे सकाम कर्म को भी रुचि नहीं वह जन्मे-मरे ।

**प्रश्न १६३ - यदि मंद ज्ञानी उपासना करेगा तो उसका ज्ञान पुष्ट होगा या नहीं ?**

**उत्तर -** कर्म, उपासना अन्तःकरण की शुद्धि तथा स्थिरता द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होने के पश्चात् यदि मंद ज्ञानी कर्म-उपासना करने में लग जावेगा तो उसका वह उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा । अतः कर्म-उपासना ज्ञान के विरोधी हैं, और फिर कर्म-उपासना ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु होते हुए भी ज्ञान की इच्छा के हेतु नहीं हैं । याने कर्म, उपासना करने से किसी को ज्ञान की इच्छा उत्पन्न नहीं होती । क्योंकि-

(१) मैं कर्ता हूँ, यज्ञादिक मेरा कर्तव्य है और यज्ञादिक का फल स्वर्ग है ऐसी भेद बुद्धि से ही कर्म होते हैं ।

(२) मैं उपासक हूँ और देव उपास्य हैं ऐसी भेदबुद्धि से ही उपासना होती है ।

उपरोक्त दोनों प्रकार की बुद्धि ''सर्व ब्रह्म है'' इस बुद्धि को दूर करने के बाद ही हो सकती है । इस वास्ते कर्म, उपासना ज्ञान के विरोधी हैं । कर्म उपासना करते-करते लोग बूढ़े हो जाते हैं किन्तु उन्हें बिना सत्संग ज्ञान की इच्छा होते नहीं देखी गई । वह तो किसी तत्ववेत्ता महापुरुष के कुछ काल संग द्वारा ही जाग्रत होती है ।

अतः मंद बोध वाले जिज्ञासु को कर्म व उपासना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये । क्योंकि जिसके अन्तःकरण में आत्मा असंग है या नहीं, ऐसा-संशय कभी-कभी होता है उसे ही मंद ज्ञानी कहते हैं । ऐसे पुरुष को तो बारम्बार आत्मा असंग है और मझे किंचित् भी कर्तव्य नहीं है इस प्रकार का ही चिन्तन करना चाहिये । ऐसे करते रहने से बुद्धि का संशय दूर हो जावेगा व दृढ़ बोध हो जावेगा । लेकिन संशय वाला पुरुष मनन, निदिध्यासन छोड़ कर्म-उपासना में लग जावेगा तो उसे जो मंद बोध उत्पन्न हुआ है वह भी दूर होकर ''मैं कर्ता-भोक्ता हूँ'' ऐसा विपरीत निश्चय हो जावेगा । अस्तु, मन्द बोध उत्पन्न होने से पूर्व ही कर्म, उपासना करना कर्त्तव्य है किन्तु मन्द होने के पश्चात् नहीं करना चाहिये। अगर वह कर्म उपासना करेगा तो उत्पन्न हुआ ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा । जैसे -

पक्षी अपने अन्डे को भीतर वाले नूतन पक्षी के पंख आने से पूर्व ही उसे सेता है, किन्तु पंख आने के बाद यदि वह अन्डे को गरमी पहुँचावे तो बालक पक्षी के पंख उस अन्डे के पानी से गल जायेंगे । उसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति होने के पहले ही कर्म-उपासना का सेवन करना चाहिये किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद भी कर्म, उपासना करेगा तो बालक पक्षी के पंख की तरह मन्द ज्ञान का भी नाश हो जावेगा ।

## प्रश्न १६४ -क्या मन्द ज्ञानी की तरह दृढ़ज्ञानी को भी कर्म बाधक है ?

**उत्तर -** दृढ़ज्ञानी को मन्दज्ञानी की तरह कर्म बाधक नहीं होते हैं । यद्यपि ज्ञानी आत्मा को असंग जानता है तथापि शरीर के भोजनादि व्यवहार अथवा राजा जनक आदि की तरह विशेष राज्य पालनादिक व्यवहार भी करते हैं । ऐसे व्यवहार का ज्ञान विरोधी नहीं है अथवा व्यवहार ज्ञान का विरोधी नहीं है, क्योंकि अपने आत्मस्वरूप को ज्ञान द्वारा असंग जाना है फिर उस अच्छी प्रकार जाने हुए असंग आत्मा में यदि जीव ब्रह्म भेद मूलक व्यवहार की कर्तव्यता प्रतीत हो तो वह व्यवहार ज्ञान का विरोधी कहलाता है । किन्तु ज्ञानी को अपने आत्मस्वरूप में व्यवहार कर्तव्यता प्रतीत नहीं होती । लेकिन समस्त व्यवहार देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के ही आश्रित हैं और मुझ आत्मा में इन समस्त व्यवहारों का सबन्ध नहीं है । ऐसी बुद्धि से वह समस्त कर्म करता है । इस कारण से ज्ञानी की प्रवृत्ति भी निवृत्ति रूप ही होती है ।

जैसे अन्य व्यवहार दृढ़ ज्ञान के विरोधी नहीं उसी प्रकार अन्य बहिर्मुख पुरुषों को प्रेरणा देने के लिये ज्ञानी कर्म, उपासना, यज्ञादि साधन करे तो भी आभास रूप कर्म दृढ़ज्ञान के विरोधी नहीं है, क्योंकि दृढ़ ज्ञानी आत्मा को असंग जानकर तथा क्रियामात्र देह, इन्द्रिय, वाणी तथा अन्तःकरण के आश्रित है ऐसा जानकर कर्म, उपासना करता है । इसलिये वे आभास रूप कर्म दृढ़ ज्ञान के विरोधी नहीं हैं । आत्मा को कर्ता मानकर जो कर्म, उपासना करे तो वह ज्ञान के विरोधी बने । जो आत्मा को असंग जानकर कर्म, उपासना करता है ऐसे ज्ञानी का मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ यह दृढ़ निश्यय दूर नहीं हो सकता ।

जो ज्ञानी पुरुष आत्मा को असंग जानकर देहादिक के धर्म स्नान, भिक्षा, भ्रमण, शयन, प्रवचनादि समस्त व्यवहार की तरह क्रिया करते हैं वह आभास रूप कर्म कहलाता हैं। इसी कारण से जनकादिक ने आभास रूप कर्म किये हैं । इस आभास रूप क्रिया के साथ दृढ़ज्ञान का विरोध

नहीं है । जहाँ शास्त्रों में कर्म, उपासना रूप क्रिया का विरोध कहा है वहाँ मंद ज्ञानी के लिये ही कहा है । अर्थात् जो आत्मा को कर्ता जानकर कर्म, उपासना करता है उसके लिये ज्ञान के साथ विरोध बतलाया है । जैसे-

वृद्ध पक्षी के पंखों को अन्डे के पानी से कोई क्षति नहीं होती है । उसी प्रकार दृढ़ बोध वाले ज्ञानी को भी कर्म-उपासना से हानि नहीं होती है और जैसे वृद्ध पक्षी को सेवन का उपयोग नहीं होता उसी प्रकार दृढ़ बोध वाले को भी कर्म उपासना का कोई उपयोग नहीं है ।

इस प्रकार ज्ञान को छोड़ मोक्ष के लिये किसी अन्य साधनों की कर्तव्यता नहीं है । अपने आत्मस्वरूप को यथार्थ जानकर सोऽहम्, शिवोऽहम् विश्वास करने से बिना श्रम संसार का नाश हो जाता है । केवल आत्मा के अज्ञान से जीव को जगत् रूप दुःख की प्रतीति होती है और मिथ्या वेद से इस मिथ्या जगत् का मिथ्या गुरु के मिथ्या उपदेश से मिथ्या बाध हो जाता है । अतः ज्ञानी को कर्म बन्ध रूप नहीं होते । जीवित काल में प्रारब्ध भोग के समय तक वह जीवन मुक्त दशा तथा प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है ।

**प्रश्न १६५ - ज्ञानी का मोक्ष कितने प्रकार का होता है ?**

**उत्तर -** ज्ञानी का मोक्ष तो एक ही प्रकार होता है जिसे विदेह मोक्ष अथवा कैवल्य मोक्ष कहते हैं, किन्तु ज्ञान होने के क्षण से प्रारब्ध भोग पूर्ण होने तक देहादिक प्रपंच की प्रतीति होते हुए जो ब्रह्मरूप में स्थिति है वह जीवनमुक्त अवस्था कहलाती है। तथा प्रपंच की प्रतीति से रहित ब्रह्म स्वरूप में स्थिति व प्रारब्ध कर्म का भोग से नाश हो जाने के पश्चात् स्थूल, सूक्ष्म शरीर के आकार से परिणाम को प्राप्त हुए अज्ञान का चेतन में विलय होने को विदेह मोक्ष कहते हैं ।

**प्रश्न १६६ - ज्ञानी को प्रपंच की प्रतीति क्यों होती है ?**

**उत्तर -** अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप दो शक्तियाँ हैं । इसमें आवरण शक्ति का तो तत्त्वज्ञान होने के क्षण में ही नाश हो जाता है । जिससे

ज्ञानी को पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु प्रारब्ध भोग के बल से दग्ध धान्य या दग्ध रस्सी की तरह विक्षेप शक्ति (लेशा विद्या) बाकी रहती है। इसके प्रभाव से जीवनमुक्त ज्ञानी को भी प्रपंच की प्रतीति होती रहती है। किन्तु वह स्वरूप को नहीं भूलता है और वह प्रतीति उसको बन्धन का हेतु भी नहीं होती है। जैसे अपने स्वरूप को भली प्रकार जानते हुए भी जल या दर्पण से बिम्ब की समीपता जब तक होगी वहाँ तक उल्टा प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती ही रहती है।

**प्रश्न १६७ - जीवन मुक्त ज्ञानी का जीवन किस प्रकार का होता है ?**

**उत्तर -** जैसे वृक्ष का सूखा पत्ता वायु के वेग से इधर-उधर उड़ा करता है उसी प्रकार प्रारब्ध शेष के बल से ज्ञानी भी शुभाशुभ क्रियाएँ करते हुए से प्रतीत होते हैं।

कभी तो वे गाड़ी, घोड़ा, रेल, मोटर, हवाई जहाज की सवारी करते नजर आते हैं तो कभी-कभी वे ही नंगे पाँव भ्रमण करते हुए दिखते हैं। कई बार तो नाना प्रकार के वस्त्र, अलंकार, श्रृंगार करते हुए सुन्दर शय्या पर आराम करते हैं तो कभी भूखे-प्यासे पर्वत की गुफाओं में पत्थर पर दिगम्बर पड़े रात्रि गुजारते प्रतीत होते हैं। किसी स्थान में तो हजारों लोग उनकी साष्टांग प्रणाम कर सेवा, पूजा, अर्चनादि कर अपने हाथों से उन्हें भोजन कराते हैं और किसी जगह कर्मवादी भेदबुद्धि वाले लोग उनको लोक-परलोक दोनों से भ्रष्ट हुआ मानकर निन्दा, अपमान तथा मारपीट तक भी करते हैं तथा विष देकर उनके प्राण तक हर लेते हैं। फिर भी वे उन्हें क्षमा, मौन तथा शान्ति में ही उत्तर देते हैं। उनकी अवस्था बहुत विचित्र होती है ''कभी घी घना, कभी मुट्ठी चना, कभी वह मी मना' पर वे हर हालत में मस्त ही रहते हैं।

हाँ, इसमें इतना रहस्य है कि जो लोग उनकी स्तुति, भक्ति, पूजन करने हैं उनको तो उस महापरुष के अनन्त पुण्यों का फल प्राप्त होता है तथा जो लोग उनकी निन्दा, तिरस्कार, दोषदृष्टि, अश्रद्धा आदि

अभद्र व्यवहार करते हैं उनको उसके पापों का फल भोगने को स्वतः ही मिल जाता है । उस ज्ञानी को पुण्य-पाप से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानियों के जीवन व्यवहार का कोई नियम विशेष नहीं रहता कि वे ऐसे ही रहते हैं और ऐसे नहीं रहते हैं । किन्तु उनको तत्त्व का दृढ़ निश्चय याने मैं आत्मा असंग, निष्क्रिय देहादिक का साक्षी मात्र हूँ ऐसा बोध बना रहता है । उनको किसी भी कारण से किसी भी समय मैं कर्ता-भोक्ता, जन्म-मृत्यु वाला हूँ, ऐसी विपरीत बुद्धि नहीं होती है । उनके मन से भेद रूपी भ्रान्ति का सर्वथा नाश हो तथा वेद प्रमाण से अदृश्य ब्रह्म का उनको साक्षात्कार दृढ़ निष्ठा रूप में 'वह मैं हूँ' हो गया होता है इससे उनके लिये कुछ कर्तव्य नहीं होता । क्योंकि वेद में तत्त्वज्ञानी को कुछ कर्तव्य नहीं कहा है और वेद प्रमाण से श्रेष्ठ प्रमाण अन्य है नहीं ।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष के जीवन व्यवहार का कोई नियम नहीं क्योंकि ज्ञानी के व्यवहार में अज्ञान और उसका कार्य जो भेदभ्रान्ति तथा भेदभ्रान्ति का जो कार्य राग-द्वेषादि वह तो है नहीं, किन्तु विक्षेप शक्ति के द्वारा ज्ञानी का प्रारब्ध भोग होता रहता है तथा उस प्रारब्ध कर्म के निमित्त से ही नाना प्रकार के व्यवहार होते रहते हैं । यह प्रारब्ध कर्म सब ज्ञानियों के एक समान नहीं होते हैं । इस वास्ते ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म जन्य व्यवहार का नियम नहीं हो सकता ।

**प्रश्न १६८ - यदि ज्ञानी के व्यवहार में कोई नियम नहीं रहेगा तो अज्ञानी व ज्ञानी में क्या भेद रहेगा ? अतः ज्ञानी के जीवन में नियम पूर्वक निवृत्ति होना चाहिये ?**

**उत्तर -** यह कहना ठीक नहीं कि ज्ञानवान को निवृत्ति परायण होकर समाधि का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि सर्वश्रेष्ठ वेद प्रमाण से उसने अपने आत्मा का साक्षात्कार कर कृत्यकृत्य हो गया या जो पाना था वह पा लिया, जो करना था वह कर लिया । अब उसके लिये वेद का विधि

निषेध रूप शासन हट गया । वेद की आज्ञा तो अज्ञानी पर ही शासन करती है । ज्ञानी का जीवन निरंकुश होता है । फिर निवृत्ति अथवा प्रवृत्ति हेतु वेद की आज्ञारूप विधि तो ज्ञानी के लिये नहीं है कि जिससे ज्ञानी के व्यवहार का नियम हो सके । इस वास्ते ज्ञानी निरंकुश है और प्रारब्ध से उसका व्यवहार चलता रहता है ।

जिसका प्रारब्ध केवल भिक्षा-भोजन का ही हेतु है उस ज्ञानी की केवल भिक्षा भोजन मात्र में प्रवृत्ति होती है और जिस ज्ञानी का प्रारब्ध अधिक भोग का हेतु है राजा जनक, शिखरध्वज, चुड़ालावत उसकी अधिक भोग में प्रवृत्ति होती है । यदि कोई ऐसा कहे कि जिसका प्रारब्ध मात्र भिक्षा-भोजन का ही है उसे ही ज्ञान होता है और जिसका प्रारब्ध अधिक भोग का हेतु है उसे ज्ञान नहीं होता तो ऐसा उनका कहना सिद्धान्त को न जानने के कारण है, क्योंकि याज्ञवल्क्य तथा राजा जनक आदि को इतिहास पुराणों में ज्ञानी कहा है । याज्ञवल्क्य व जनक ज्ञानी नहीं थे ऐसा तो कोई नहीं कह सकता है । उसमें तो याज्ञवल्कय ने ब्राह्मणों की सभा को शास्त्रार्थ करके जीता व धन-संग्रह किया था । यदि वे ज्ञानी न होते तो सभा कैसे जीत सकते थे ? सभा उन्होंने जीती इसके लिये बृहदारण्यक उपनिषद प्रमाण है और राजा जनक ने राज्यविस्तार, राज्य-पालन, राज्य-शासन रूप व्यवहार किया तथा और भी कई इतिहास योगवशिष्ठ ग्रंथ में अनेक ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार सम्बन्ध में कहे हैं । ज्ञानी के लिये तो विक्षेप तथा समाधि दोनों ही व्यवहार विकारो मन के हैं । अतः उसे मिथ्या संसार से विक्षेप ही नहीं तो समाधि या निवृत्ति परायण भी क्यों होवे ? अर्थात् ज्ञानी का व्यवहार नियम रहित प्रारब्ध से है ।

**प्रश्न १६९- याज्ञवल्क्य ने सभा जीतने के बाद भी विद्वत् संन्यास रूप निवृत्ति धारण क्यों किया था ?**

**उत्तर -** यद्यपि याज्ञवल्क्य ने विद्वत् संन्यास रूप निवृत्ति को धारण किया है और प्रवृत्ति में ग्लानि के हेतु नाना दोष भी बतलाये हैं तथापि यह तो

नहीं कहा जा सकता है कि विद्वत् संन्यास लेने से पूर्व याज्ञवल्कय पूर्ण ज्ञानी नहीं थे । ज्ञान तो उन्हें पहले से ही था व उन्होंने जनक की सभा में ब्राह्मणों को जीता था तथा राजा जनक को भी बोध कराया यह प्रामाणिक बात है । केवल विद्वत् संन्यास धारण करने से पूर्व उन्हें जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द का अभाव था, क्योंकि प्रवृत्ति में जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता है । एकाग्रता रूप अन्तःकरण के परिणाम से ब्रह्माकार वृत्ति में हीं आनन्द प्राप्त होता है । अतः जीवन मुक्ति के आनन्द की अनुभूति हेतु उन्होंने अपने समस्त संग्रह का त्याग कर विद्वत् संन्यास को ग्रहण किया था। उसमें विद्वत् संन्यास से पूर्व याज्ञवल्क्य का प्रारब्ध अधिक प्रवृति का होने से उन्होंने धन संग्रह हेतु सभा को शास्त्रवाद में परास्त कर धन संग्रह किया तथा बाद में उनका प्रारब्ध कम भोग का होने से निवृत्ति परायण हुए व प्रवृत्ति में ग्लानि एवं दोष भी कहे । अतः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति व न्यूनाधिक भोग ज्ञानी के प्रारब्धानुसार ही होते हैं ।

राजा जनक का प्रारब्ध तो अन्त समय तक राज्य पालन एवं भोग का ही हेतु रहा, इसलिये उन्हें भोगों में ग्लानि और त्याग दोनों का अभाव रहा ।

शिखरध्वज की तो ज्ञान हो जाने के बाद और अधिक प्रवृत्ति हुई ऐसा योगवशिष्ठ ग्रंथ में वर्णन है । प्रह्लाद, ध्रुव, अर्जुन आदि भी ज्ञान होने के बाद राज्य कार्य में लगे हैं । नारद, वामदेव, जड़भरत का प्रारब्ध न्यून (थोड़े) भोग का हेतु रहा था इसलिये सदा भोगों में अरुचि और प्रवृत्ति का अभाव रहा ।

**कृष्ण भोगी शुकस्तयागी राजा नौ जनक राघवौ ।**
**वशिष्ठः कर्म कर्ता च त एते ज्ञानिनः समा ।।**

एक साम्प्रदायिक लोगों का उपरोक्त श्लोक है जिसका तात्पर्य यह है कि जनक और रामचन्द्र दोनो राजा हुए । कृष्ण भोगी तथा शुकदेव त्यागी हुए हैं । वशिष्ठ मुनि कर्मों के कर्ता हुए । इस प्रकार इनका प्रारब्ध

भेद से विलक्षण व्यवहार हुआ है । तथापि भोगी व त्याग प्रवृत्ति वाले तथा निवृत्ति वाले दोनों ज्ञानी समान हैं ।

इस प्रकार नाना प्रकार के विलक्षण व्यवहार ज्ञानी पुरुषों के प्रतीत होते हैं । किन्तु उन सभी को ज्ञान और उसका फल विदेह मोक्ष समान ही है । मात्र प्रारब्ध भिन्न-भिन्न होने से उनके व्यवहारों में विषमता प्रतीत होती है । उनमें से जिसका प्रारब्ध थोड़ी प्रवृत्ति का है उसे जीवन मुक्ति का विशेष सुख मिलता है और जिसका प्रारब्ध अधिक व्वव्हार का हेतु है उसे जीवन मुक्ति का अल्प सुख प्राप्त होता है ।

**प्रश्न १७० - जो व्यक्ति जीवनमुक्ति के सुख को तुच्छ विषय सुख के लिये परित्याग कर सकता है वह विदेह मोक्ष को छोड़ बैकुण्ठादि सुख की भी इच्छा रख वहाँ क्यों नहीं जाना चाहेगा ?**

**उत्तर -** जीवनमुक्ति का सुख त्याग एवं भोगों में प्रवृत्ति तो ज्ञानी की प्रारब्धानुसार ही होती है और विदेह मोक्ष का त्याग व परलोक गमन की इच्छा ज्ञानी को नहीं हो सकती । क्योंकि श्रुति कहती है -

**''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रेव समवलीयन्ते''**

नुसिंहोत्तर ताः उफ

अर्थात् ज्ञानी के प्राण बाहर देश में गमन नहीं करते । किन्तु यहीं समष्टि भूतों में ही उसके स्थूल, सूक्ष्म संघात शरीर का लय हो जाता है। अतः प्राणों का बाहर देश में न जाने के कारण परलोक गमन तो नहीं हो सकता । ज्ञानी के विदेह मोक्ष में भी शंका नहीं करना चाहिये । इसके लिये पद्मपुराण के उत्तरखंड में शिवगीता के १३ अध्याय के ३३ श्लोक में कहा है -

**वृक्षाग्रच्युतपादो यः स तदैव पतत्यधः ।**
**तद्वज्ज्ञानवतो मुक्तिर्जायते निश्तिापितु ।।**

अर्थात् वृक्ष के अग्रभाग पर से मनुष्य गिरते ही जैसे भूमि को बिना इच्छा के प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानवान् की मुक्ति भी निश्चित ही है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होकर प्रारब्ध भोगों के समाप्त होने पर स्थूल सूक्ष्म शरीर के आकार को धारण करने वाले कारण शरीर अज्ञान का चेतन में लय हो जाने को विदेह मोक्ष कहते हैं जो कि तत्त्वज्ञानी को अवश्य ही होता है । मोक्ष का नाश तो तब सम्भव हो सकता है जब एक बार अच्छी प्रकार दग्ध रस्सी पुनः किसी के बन्धन का हेतु हो सके याने नष्ट हुए मूल अज्ञान की पुनः उत्पत्ति हो जाती हो तब तो विदेह मोक्ष का भी अभाव हो सकता था, किन्तु मूल अज्ञान के विरोधी ज्ञान द्वारा नष्ट होने पर पुनः अज्ञान नहीं रहता है तथा वेद के प्रबल प्रमाण महावाक्यों द्वारा नष्ट हुए अज्ञान की फिर से उत्पत्ति नहीं होती । इस वास्ते ज्ञानी के विदेह मोक्ष का अभाव नहीं हो सकता ।

फिर ज्ञानी को विदेह मोक्ष के त्याग तथा परलोक जाने की इच्छा भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानी को केवल प्रारब्ध से ही इच्छा होती है । जितनी सामग्री से प्रारब्ध भोग भोगा जा सकता है उतनी सामग्री ही प्रारब्ध रचता है और ज्ञानी को भोग-भोगने हेतु प्रस्तुत करता है । इच्छा बिना भोग हो नहीं सकता । इस वास्ते ज्ञानी की इच्छा भी प्रारब्ध का फल है ।

अन्य लोक में या इस लोक में ज्ञानी को अन्य शरीर की प्राप्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानी के प्राण अन्य बाहर देश में तो जाते नहीं । अब यदि उसका प्रारब्ध ही दो या तीन जन्म का हेतु है या उसको अन्तिम जन्म में ही ज्ञान होगा । उसके पहले तो उसे ज्ञान के साधन श्रवण, मननादि करते हुए भी ज्ञान नहीं हो सकेगा । (१) विषया शक्ति (२) बुद्धिमन्दता (३) भेदवादियों के वचन में विश्वास ये सब ज्ञान के प्रतिबन्धक है याने ज्ञान नहीं होने देते । जब दूसरे या तीसरे जन्म में ज्ञान के प्रतिबन्धक दूर हो जाते हैं तब प्रथम जन्म में किये ज्ञान के साधन

श्रवणादिक से अन्तिम जन्म में बिना गुरु के भी ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष हो जाता है ।

जैसे वामदेव नाम के एक मुमुक्ष को पूर्व जन्म में श्रवणादिक करते हुए भी प्रारब्ध के फल रूप एक शरीर धारण करना बाकी होने से उस जन्म में ज्ञान नहीं हुआ, किन्तु श्रवणादि करते करते उस शरीर के पतन के बाद अन्य शरीर की प्राप्ति हुई । उस वक्त उस पूर्व जन्म में किये श्रवणादिक के फलस्वरुप गर्भावस्था में ही ज्ञान हो गया ।

इसी प्रकार ऋषभदेव के पुत्र जड़भरत का भी तीन जन्मों को देने वाला प्रारब्ध शेष था । इसलिये ज्ञान के साधन श्रवण मनन करते हुए भी बोध नहीं हुआ व अन्तिम जन्म में बिना गुरु के पूर्व किये अभ्यास के बल से ज्ञान हो गया था ।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान हो जाने के बाद अन्य शरीर का सम्बन्ध होता ही नहीं । केवल वर्तमान शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से होती है और इससे अधिक प्रारब्ध उसका शेष रहता नहीं जो भावी जन्म को प्रदान कर सके । इस प्रकार ज्ञानी के विदेह मोक्ष का नाश एवं परलोक प्राप्ति की इच्छा सम्भव नही है ।

जैसे स्वप्न से जागे हुए पुरुष को यह इच्छा कभी नहीं होती कि मुझे स्वप्न रूप भ्रान्ति पुनः हो और उसे स्वप्न के नगरों में जाने की इच्छा भी नहीं होती । उसी प्रकार ज्ञानी को बन्ध रूप भ्रान्ति की निवृत्ति रूप विदेह मोक्ष का त्याग कर फिर से बन्धरूप भ्रान्ति में पड़ने की इच्छा नहीं होती है और स्वर्ग बैकुण्ठादि लोक में जाने की इच्छा भी नहीं होती है ।

**प्रश्न १७१ -भिक्षा भोजन की इच्छा तो ज्ञानी को प्रारब्ध से होती है किन्तु अधिक भोग की इच्छा तो ज्ञानी को नहीं करनी चाहिये ?**

**उत्तर -** जैसे संन्यासी को भिक्षा भोजन मात्र की इच्छा प्रारब्ध वशात् होती है वैसे ही अधिक भोग की इच्छा जनकादि जैसे ज्ञानी को प्रारब्ध

से ही होती है। ज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति जीवन मुक्ति की विरोधी नहीं है, किन्तु जीवन मुक्ति के सुख की ही विरोधी है । क्योंकि आत्मा नित्यमुक्त है, अज्ञान से बन्ध प्रतीत होता है और जिस वक्त ज्ञान होता है उसी वक्त अविद्याकृत बन्धन नाश हो जाता है । ज्ञान हो जाने के बाद कोटि-कोटि इच्छाओं के होने से भी ज्ञानी को बन्धन नहीं होता । अर्थात् उसके मोक्ष का नाश नहीं होता । आत्मा कामनाओं के होने पर भी उनका साक्षी असंस्पर्श ही रहता है ।

स्थूल, सूक्ष्म संघात की प्रतीति होते हुए भी बन्धरूप भ्रान्ति का अभाव जीवनमुक्ति कहलाती है । ज्ञानी के लिये शरीर की प्रवृत्ति हो या निवृत्ति विक्षेप हो या समाधि उसके कारण आत्मा में बन्ध की भ्रान्ति नहीं होती । अतः बाह्य प्रवृत्ति करने पर भी ज्ञानी की जीवन-मुक्ति का नाश नहीं होता है। केवल एकाग्रता रूप अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति न होने के कारण विशेष सुख का अभाव रहता है । एकाग्रता रूप अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति से ही सुख होता है बाह्य प्रवृत्ति में एकाग्रता नहीं रहती।

जैसे बाजीगर के खेल को मिथ्या जानते हुए भी समझदार लोग देखने में प्रवृत्त होते हैं अथवा रोगी को वैद्य डाक्टर द्वारा मना करने पर भी और स्वयं जानते हुए भी अपथ्य कर लेता है । उसी प्रकार जगत् के समस्त व्यवहार तथा पदार्थों को मिथ्या जानते हुए भी ज्ञानी की उसमें प्रवृत्ति प्रारब्ध से होती है ।

**प्रश्न १७२ -मंद प्रारब्ध किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** मंद अधम प्रारब्ध अधिक प्रवृत्ति देने वाले प्रारब्ध के कारण अन्तःकरण का एकाग्रता रूप परिणाम के अभाव के कारण जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द से वंचित् रह जाता है । ऐसे प्रारब्ध को मंद प्रारब्ध कहते हैं । जैसे कोई धनधान्य से सम्पन्न युवा पुरुष असाध्य रोगों के कारण अपने वैभव का भोग नहीं कर सकता । उसका रोगप्रद प्रारब्ध मन्द कहा जाता है ।

## प्रश्न १७३ - ऐसा कोई उपाय है जिससे इच्छादिक का सर्वथा अभाव हो जावे ?

**उत्तर -** इच्छादिक का होना तो अन्तःकरण का स्वाभाविक धर्म है । जहाँ ज्ञानी को इच्छादिक नहीं होती उसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञानी का अन्तःकरण पदार्थ की इच्छारूप परिणाम को प्राप्त ही नहीं होता है । अन्तःकरण पंचभूतों के सत्त्वगुण का कार्य है ऐसा कहने में आया है फिर भी उसमें रजोगुण तमोगुण मिश्रित होते है केवल सत्त्वगुण का ही कार्य नहीं है । यदि अन्तःकरण केवल सत्त्वगुण का ही कार्य होता तो चल स्वभाव उसका नहीं होना चाहिये था । उसी प्रकार काम क्रोधादिक रजोगुण की वृत्तियाँ तथा मूढता आलस्य प्रमादादि तमोगुण की वृत्तियाँ कोई भी अन्तःकरण में नहीं होना चाहिये । इससे सिद्ध होता है कि केवल सत्त्वगुण का ही कार्य अन्तःकरण नहीं है, किन्तु रजोगुण, तमोगुण भी अप्रधान एवं सत्त्वगुण प्रधान रूप से है ऐसे भूतों का कार्य अन्तःकरण है । इस वास्ते अन्तःकरण में तीनों गुण स्थित है और वह तीनों गुण भी सब मनुष्यों के अन्तःकरण के समान नहीं है, किन्तु न्यूनाधिक मात्रा में है । इसी कारण से सबके स्वभाव भी भिन्न-भिन्न देखने में आते हैं ।

इस प्रकार तीनों गुणों का कार्य अन्तःकरण है । अतः जहाँ तक अन्तःकरण होगा वहाँ तक रजोगुण का परिणाम जो इच्छादिक है उनका सर्वथा अभाव होना किसी देहधारी के लिये सम्भव नहीं है ।

## प्रश्न १७४ - फिर अज्ञानी तथा ज्ञानी की इच्छाओं में क्या भेद होता है ?

**उत्तर -** अज्ञानी तथा ज्ञानी को समान ही इच्छा होती है तथा पदार्थ का गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध भी समान ही अनुभव में आता है । जो अग्नि उष्ण तथा जल शीतल अज्ञानी हेतु है वही ज्ञानी को भी प्रतीत होता है। चीनी ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही मीठी लगती है किन्तु भेद इतना ही है कि -

(१) अज्ञानी इच्छा राग-द्वेषादि को आत्मा का धर्म समझता है ।

(२) ज्ञानी को जिस वक्त इच्छा होती है उस समय वह यह नहीं समझता कि यह आत्मा का धर्म है, किन्तु काम, संकल्प, संदेह, राग, द्वेष, श्रद्धा, भय, लज्जा, इच्छा आदि समस्त अन्तःकरण का ही परिणाम है इस वास्ते अन्तःकरण के ही धर्म है ऐसा वह जानता है ।

इस प्रकार ज्ञानी के मनमें इच्छा होते हुए भी उसे अपने आत्मा के धर्म प्रतीत नहीं होते हैं । इसलिए कहीं - कहीं ज्ञानी को इच्छा का अभाव कहा है, किन्तु ज्ञानी का अन्तःकरण इच्छादि परिणाम को प्राप्त ही नहीं होता ऐसा भाव नहीं समझना चाहिये इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर से ज्ञानी जो व्यवहार करता है वह व्यवहार आत्मा करता है ऐसी ज्ञानी को मिथ्या भ्रान्ति नहीं होती, किन्तु समस्त क्रियाओं को मन, वाणी, इन्द्रियाँ, प्राण, देहादिक संघात् करता है और मैं आत्मा असंग हूँ ऐसा ज्ञानी के अन्त: करण सहित चिदाभास का निश्चय होता है ।

अस्तु, समस्त व्यवहार करते हुए भी ज्ञानी अकर्ता है और इसी कारण से श्रुति में कहा है कि ज्ञान हो जाने के बाद ज्ञानी को कर्तव्य बुद्धि न होने के कारण वर्तमान शरीर के शुभाशुभ के फलरूप पुण्य - पाप का सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु प्रारब्ध के बल से अज्ञानी की तरह उसके समस्त व्यवहार और उनकी इच्छायें होती हैं ।

**प्रश्न १७५-तब मैं अपने लिये क्या निश्चय करूँ जिससे दु:ख से पार हो सकूँ ?**

**उत्तर** - हे आत्मन् ! मैं अल्पज्ञ, असमर्थ अधम, पापी मनुष्य हूँ ऐसी दीनता को छोड़कर अपने को नित्य, शुद्ध - बुद्ध, अविनाशी तथा दृश्य मात्र का प्रकाशक सच्चिदानन्द ब्रह्म जान । तू अपने ही अज्ञान से इस समस्त जगत् की रचना करता है याने मैं तथा मेरा यह जगत्, जीव अपने अज्ञान से ही रचता है तथा तू ही ज्ञान प्राप्त करके उस जगत् का संहार करता है । इतने पर भी तू अविनाशी ही है ।

यह मिथ्या प्रपंच याने विस्तार को प्राप्त हुआ यह प्रतीत होने वाला जगत् देखकर तू जो मन में दुःख करता है उसे न कर, क्योंकि तू तो समस्त देवों का देव (महादेव) है और अत्यन्त सुख स्वरूप है ।

जैसे रस्सी साँप रूप तथा सीप चाँदी (रजत) रूप प्रतीत होती है उसी प्रकार माया द्वारा तू ही स्वयं जीव, जगत्, और ईश्वर रूप दिखाई पड़ता है । अतः ज्ञान रूपी सूर्य को प्राप्तकर एवं अपने बुद्धि के द्वारा मन के अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर तथा जीव में से अविद्या भाग का और ईश्वर में से माया भाग का त्याग करके जीव ईश्वर में जो भेद प्रतीत होता है उसका नाश कर, फिर उन दोनों में अवशिष्ट रहे ज्ञानरूप जो चेतन भाग जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा है वह भेद रहित मैं स्वयं हूँ , 'सोऽहम्' ऐसा दृढ़ निश्चय कर ।

वेदों के विचार का सार यही है कि तू स्वयं परमात्मा है यह धारणा कर तथा ईश्वर मेरा स्वामी है और मैं उनका दास हूँ इस बन्धन को ज्ञान खड्ग (तलवार) से काट दे । तू चल रूप नहीं किन्तु अचल आत्मा है। संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष आकाश की नीलता की तरह तथा विराट तम्बु आकार की तरह मिथ्या है । वैसे संसार भी तुझ आत्मा में नहीं है केवल स्वरूप अज्ञान से ही तुझे मिथ्या प्रतीत होता है ।

## प्रश्न १७६-इस प्रपंच संसार में मिथ्यापना क्या है ?

**उत्तर :-** सत् तथा असत् से विलक्षणता रूप जो अनिर्वचनीयता है वही प्रपंच में मिथ्यापना है । प्रपंच को यदि सत्य माने तो ब्रह्म की तरह प्रपंच का भी बाध नहीं हो सकेगा, किन्तु आत्म साक्षात्कार होने पर प्रपंच का बाध हो जाता है । अतः प्रपंच सत्य नहीं है सत्य से विलक्षण है । यदि प्रपंच को सत् से विलक्षण असत् मानते हैं तो वह बन्ध्यापुत्र, नर-श्रृंग की तरह प्रपंच भी प्रत्यक्ष नहीं दिखना चाहिए था ? किन्तु ज्ञान से पूर्व प्रपंच की प्रत्यक्षता सभी को होती ही है इस वास्ते प्रपंच असत्य से भी विलक्षण है । फिर सत् तथा असत् उभय रूपता भी सम्भव नहीं ।

इस प्रकार की प्रतीति को वेदान्त मत में अनिर्वचनीय ख्याति (प्रतीति) कहते हैं । रस्सी में साँप, सीप में रजत, मरूस्थल में जल आदि भी मिथ्यारूप ही है, याने अनिर्वचनीय भासित होता है । यह समस्त प्रपंच अविद्या का कार्य है तथा चेतन का विवर्त (अन्यथा स्वरूप) है ।

**१७७ - शब्द में वृत्ति कितने प्रकार की होती है तथा उनका क्या स्वरूप है ?**

**उत्तर -** शब्द का जो उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है उसे वृत्ति कहते हैं । वह वृत्ति दो प्रकार की होती है ।

(१) शक्ति वृत्ति (२) लक्षणा वृत्ति

**शक्तिवृत्ति :-** शब्द का श्रोता के कान से सम्बन्ध होते ही जो उसमें अर्थ जनवाने की सामर्थ्य रूप शक्ति है वह पदकी शक्ति वृत्ति कहलाती है । जैसे घट शब्द के श्रोता को कलशरूप अर्थ एवं पट शब्द के श्रोता को वस्त्ररूप अर्थ का ज्ञान तथा अग्नि शब्द का उच्चारण करते ही श्रोता को जलती हुई आग का ज्ञान होता है वह आग अग्नि शब्द की शक्ति है इसी प्रकार सभी पदार्थों में अपना - अपना ज्ञान कराने की जो सामार्थ्य है उसे उस पद की शक्तिवृत्ति या शब्दार्थ कहते हैं ।

**लक्षणावृत्ति :-** जिस शब्द को सुनते ही श्रोता को उसका सीधा- सीधा अर्थ समझ में न आवे किन्तु सुने अर्थ के सम्बन्ध से ही उसका बोध होसके उसे शब्द की लक्षणा वृत्ति कहते हैं । अर्थात् जिस अर्थ का ज्ञान शब्द की शक्ति वृत्ति से न हो सके, किन्तु शब्द की शक्ति वृत्ति के द्वारा जाने हुए शक्य अर्थ के सम्बन्ध को जोड़ने से ही हो सके उस अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहते हैं ।

**प्रश्न १७८ - लक्षणा कितने प्रकार की होती है ?**

**उत्तर -** यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है ।

(१) जहती (२) अजहती (३) जहदजहती अथवा भागत्याग लक्षणा ।

(१) **जहती लक्षणा :-** जिस कहे हुए पद के द्वारा बोध न होने से उस सम्पूर्ण पद को त्यागकर उसके सम्बन्धी का ही केवल ग्रहण हो उसे जहती लक्षणा मानी जाती है । जैसे किसी ने कहा कि ''गंगा में झोपड़ी है'' यहाँ समूल वाक्य के अर्थ से गंगा के पानी में झोपड़ी अर्थ सिद्ध होता है किन्तु पानी में घर सम्भव नहीं होता इसलिये इस जाने हुए शब्द अर्थ के सम्बन्धी गंगा के तट का ही ग्रहण किया जाता है । इसलिये गंगा शब्द की किनारे में जहती लक्षणा मानी जाती है ।

(२) **अजहती लक्षणा :-** जिस कहे हुए पद से पूर्ण बोध न हो किन्तु उसके साथ सम्बन्धी का भी ग्रहण करने पर बोध हो वहाँ अजहती लक्षणा होती है । अर्थात् (शक्य अर्थ) सहित वाच्य के सम्बन्धी का अधिक से ग्रहण करने को अजहती लक्षणा कहते हैं ।

जैसे किसी ने कहा काला 'बहुत तेज दौड़ता है ।' यहाँ काला पद नाम रंग का है । वह अकेला तो दौड़ नहीं सकता, अतः काला रंग सम्बन्धी बैल अथवा घोड़ा का और अधिक से ग्रहण करने पर ही वाक्य का बोध होता है । इसमें वाच्य का त्याग भी नहीं है जहती की तरह किन्तु वाच्य के सहित उसके सम्बन्धी का भी ग्रहण होने से अजहती लक्षणा है ।

(३) **भागत्याग लक्षणा :-** जिसे कहे हुए वाक्य के अर्थ में विरोध प्रतीत होता है वहाँ कहे वाक्य में से विरोधी भाग का त्याग कर अविरोधी भाग का ग्रहण किया जाता है उसे भाग-त्याग लक्षणा या जहत-जहती लक्षणा भी कहते हैं ।

जैसे पहले देखे हुए पदार्थ को किसी दूसरे स्थान पर देखकर कोई कहे कि ''यह वह है'' यहाँ भाग त्याग लक्षणा है, क्योंकि भूतकाल और अन्य देश में स्थित वस्तु को 'वह' कहते हैं और वर्तमान काल में समीप देश में स्थित वस्तु को 'यह' कहते हैं । इस 'वह' पद में भूतकाल सहित और अन्य देश में स्थित वस्तु 'वह' पद का वाच्यार्थ है

तथा वर्तमान काल सहित समीप देश में स्थित वस्तु 'यह' पद का वाच्यार्थ है । अब अतीत काल सहति अन्य देश स्थित जो वस्तु है उसका ही वर्तमान काल सहित समीप देश में स्थित होना कहा है ।

यह समुदाय का वाच्यार्थ तो बन नहीं सकता, क्योंकि भूतकाल तथा वर्तमानकाल का विरोध है, तथा अन्य देश व समीप देश का भी विरोध है । इसलिये इन दोनों पदों में से कहे हुए वाच्यांश देश, काल का त्याग करके वस्तु मात्र में दोनों पदों की भाग त्याग लक्षणा है ।

**प्रश्न १७९ - वेद के महावाक्यों का बोध किस लक्षणा से होता है और कैसे होता है ?**

**उत्तर -** वेदों के महावाक्यों का बोध भाग त्याग लक्षणा से ही होता है । जहती तथा अजहती लक्षणा व्यवहारिक ज्ञान में ही उपयोगी होती है । जीव ब्रह्म की एकता के बोधक वाक्य को महावाक्य कहते हैं जिनसे अपरोक्ष ज्ञान होता है । जीव अथवा ब्रह्म का बोधक वाक्य अवान्तर वाक्य कहलाता है जो परोक्ष ज्ञान का हेतु है ।

**(१) तत्त्वमसि (२) अयमात्मा ब्रह्म (३) अहं ब्रह्मास्मि (४) प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म**

उपरोक्त चारों महावाक्यों में 'तत्त्वमसि' याने 'वह तू है' वाक्य को उपदेशक वाक्य कहते हैं तथा बाकी के तीनों वाक्यों को अनुभव वाक्य कहते हैं । कारण स्पष्ट है 'तत्त्वमसि' यह गुरु का शिष्य के प्रति उपदेश है और बाकी के अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है), अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) और प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म (ज्ञान और आनन्द ब्रह्म है) ऐसा बोलने वाला स्वयं का अनुभव बताने वाला है ऐसा वाक्य से प्रतीत होता है ।

गुरु उद्दालक अपने पुत्र (शिष्य) श्वेतकेतु को छान्दोग्य उपनिषद् में उपदेश करते हुए कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) किन्तु श्वेतकेतु ने कहा वह ईश्वर मैं कैसे हो सकता हूँ ? तब उसके पिता ने कहा भागत्याग लक्षणा से मैं तेरी उसके साथ एकता कहता हूँ । देख तत्त्वमसि

महावाक्य में तीन पद, हैं 'तत्' पद 'त्वं' पद तथा 'असि' पद, तीनों को मिलाने से तत+त्वं+असि यानि 'तत्त्वमसि' बना है ।

**तत पद ईश्वर का बोधक है ।**

**त्वं पद जीव का बोधक है ।**

असि पद दोनों की एकता का बोधक है । बाकी के तीनों महावाक्यों में ब्रह्म शब्द ईश्वर का बोधक है तथा त्वम्, प्रज्ञानम्, अहम् और 'आत्मा' ये जीव के वाचक शब्द है । तत और त्वं पद के वाच्यार्थ में से चिदाभास के धर्म सहित माया अविद्या रूप विरोधी भाग का त्याग और अविरोधी असंग शुद्ध चेतन भाग का ग्रहण होने से भाग त्याग लक्षणा यहाँ उपयोगी है ।

इस प्रकार चारों महावाक्यों में जो जीव तथा ईश्वर की एकता बताई गई है वह लक्ष्य अर्थ जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी जो शुद्ध चेतन है उसकी दृष्टि से ही बतलाई गई है न कि वाच्य अर्थ की दृष्टि से ।

**प्रश्न १८० - तत् पद तथा त्वं पद के वाच्य अर्थ व लक्ष्य अर्थ क्या है ?**

**उत्तर -** (१) माया, माया में आभास और माया का अधिष्ठान चेतन ये तीनों मिलकर 'तत्' पद का वाच्य है ।

(२) अविद्या, अविद्या में आभास और अविद्या का अधिष्ठान चेतन ये तीनों मिलकर त्वं पद का वाच्य है ।

(१) माया और चिदाभास भाग का त्याग करके शेष रहे अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है ।

(२) अविद्या और चिदाभास भाग का त्याग करके शेष रहे अधिष्ठान जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ है ।

**प्रश्न १८१ - माया तथा अविद्या में चेतन का आभास पड़ने से क्या भेद हो गया ?**

**उत्तर -** शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान को माया उपाधि तथा मलिन सत्वगुण प्रधान को अविद्या उपाधि कहते हैं ।

जहाँ शुद्ध सत्त्वगुण हैं वहाँ रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुण से देब हुए हैं तथा जहाँ मलिन सत्त्वगुण है वहाँ रजोगुण तमोगुण से सत्त्वगुणदबा है । इतने भेद के कारण ही दोनों चिदाभास के धर्मों में महान् अन्तर आ गया है ।

| **माया में आभास से** | **अविद्या में अभास से** |
|---|---|
| (१) सर्वशक्तिपना | (१) अल्पशक्तिपना |
| (२) सर्वज्ञपना | (२) अल्पज्ञपना |
| (३) व्यापकपना | (३) परिच्छिन्नपना |
| (४) एकपना | (४) अनेकपना |
| (५) स्वाधीनपना (मुक्त) | (५) पराधीनपना (बन्ध) |
| (६) समर्थपना | (६) असमर्थपना |
| (७) परोक्षपना | (७) अपरोक्षपना |
| (८) फलदाता | (८) कर्ता - भोक्ता |
| (९) अजन्मा | (९) जन्म - मृत्यु |
| ये ईश्वर के धर्म हैं | ये जीव के धर्म हैं । |

**प्रश्न १८२ - 'तत' पद और 'त्व' पद के अर्थ की महावाक्य में एकता कैसे है ?**

**उत्तर -** यद्यपि तत पद और त्वं पद के वाच्चार्थ अर्थ जो उपाधि चैतन्य याने ईश्वर और जीव है उनकी एकता का तो विरोध है । तथापि तत पद का लक्ष्यार्थ ब्रह्म और त्वं पद का लक्ष्यार्थ आत्मा उनकी एकता में कोई भी विरोध नहीं है । तात्पर्य यह है कि जीव ईश्वर के देश, काल, धर्म आदि का त्याग करके दोनों में अनुगत जो चेतन ब्रह्म और आत्मा वह एक ही है इसलिये ब्रह्म वह मैं हूँ और मैं वह ब्रह्म हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय करना ही तत्त्वज्ञान है । इसीसे समस्त दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष होता है । जो अपने को इस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न जानते हैं वे ही मुक्त हैं बाकी सब बद्ध हैं ।

यद्यपि मैं ब्रह्म हूँ ऐसा बोध महावाक्य द्वारा हो जाने के साथ ही ज्ञान से तत्काल अविद्या का नाश हो जाता है और उस अविद्या के कार्यरूप जगत् सहित चिदाभास का भी बाध हो जाता है । तथापि जब तक जीवका प्रारब्धरूप निमित्त है तब तक मिथ्या जाने हुए (बाधित) देहादिक जगत् सहित चिदाभास की भी अनुवृत्ति (प्रतीति) हुआ करती है जैसे मरूस्थल में मिथ्या प्रतीत होने वाला जलाशय सूर्यकाल तक वह मिथ्या होने पर भी जलाशय जैसा प्रतीत होता रहता है । जब प्रारब्ध का अन्त आता है तब वह प्रतीति का सर्वदा के लिये अभाव हो जाता है । इसी का नाम चिदाभास रूप जीव का विदेह मोक्ष है ।

**प्रान १८३ - ब्रह्म और माया में प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर का परस्पर अध्यास (अनन्योध्यास) कैसे है?**

**उत्तर -** ब्रह्म की सत्यता का ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध से अध्यास है, इसलिये ईश्वर सत्य प्रतीत होता है किन्तु मिथ्या प्रतीत नहीं होता । ईश्वर और उसकी कारणता का स्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त है, इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण प्रतीत होता है, किन्तु शुद्ध, असंग, निष्क्रिय प्रतीत नहीं होता ।

**प्रश्न १८४ - कूटस्थ का और बुद्धि में प्रतिबिम्ब रूप जीव का परस्पर अध्यास कैसे है ?**

**उत्तर -** कूटस्थ की सत्यता का संसर्ग जीव में अध्यस्त है इसलिये जीव मिथ्या प्रतीत नहीं होता किन्तु सत्य प्रतीत होता है । जीव और उसके कर्तापन आदिक धर्म का स्वरूप आत्मा (कूटस्थ) में अध्यस्त है । इसलिये कूटस्थ, अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्यमुक्त, असंग ब्रह्मरूप प्रतीत नहीं होता, किन्तु इससे विपरित कर्ता - भोक्ता, संसारी, बद्ध संगवान् जीव रूप प्रतीत होता है । उपरोक्त अध्यास की निवृत्ति विवेक ज्ञान से ही हो सकती है ।

**प्रश्न १८५ - आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास किस प्रकार है ?**

**उत्तर -** (१) सत् (२) चित (३) आनन्द (४) अद्वैतपना ये चार आत्मा के विशेषण है ।

(१) असत् (२) जड़ (३) दु:ख (४) द्वैतपना ये चार विशेषण अनात्मा के हैं ।

परस्पर में धर्मों का अध्यास अनन्योध्यास कहलाता है ।

अनात्मा के दु:ख और द्वैतपना इन दो विशषणों ने आत्मा के आनन्द तथा अद्वैतपना इन दो विशेषणों को ढ़ाँक रखा है । इससे मैं आनन्द रूप हूँ और अद्वैत रूप हूँ यह प्रतीत न होकर मैं दु:खी एवं ब्रह्म से भिन्न हूँ ऐसा विपरीत बोध हो रहा है ।

आत्मा के सत और चित इन दो विशेषणों ने अनात्मा के असत और जड़ इन दो विशेषणों को ढक रखा है । इससे अनात्मा का चिदाभास अहंकार, मन, बुद्धि आदिक असत् तथा जड़ रूप प्रतीति न होकर सत्य है और चेतन विपरीत प्रतीति होती है । इस प्रकार यह आत्मा व अनात्मा का अनन्योध्यास होता है ।

**प्रश्न १८६- पाँच प्रकार के भ्रम की निवृत्ति किस द्रष्टान्त से होती है ?**

**उत्तर -**(१) भेद भ्रान्ति (२) कर्ता भोक्तापने की भ्रान्ति (३) संग भ्रान्ति (४) विकार भ्रान्ति (५) ब्रह्म से भिन्न जगत् के सत्यता की भ्रान्ति। यह पाँच प्रकार की भ्रान्ति रूप संसार है ।

विम्ब प्रतिबिम्ब के द्रष्टान्त से भेद भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। जब अन्तःकरण की वृत्ति आँख के द्वारा बाहर निकलती है, उस समय यदि सामने दर्पण जैसा कोई शुद्ध याने स्वच्छ पदार्थ होता है तो वह वृत्ति उस सम्मुख स्वच्छ दर्पणादि से टकराकर उसी समय वापिस लौटकर

गर्दन वाले मुख को ही देखती है अर्थात् जनवाती है । अतः यह जो हमें एक ही मुख बिम्ब रूप और प्रतिबिम्ब रूप से दिखता है वह केवल दर्पण रूप उपाधि के सम्बन्ध से ही है । यदि विचार दृष्टि से देखें तो बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव वास्तव में है ही नहीं याने दर्पण रूप उपाधि के हटा देने से मुख का बिम्बपन और प्रतिबिम्बपन नष्ट हो जाता है, अतः मिथ्या है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से तो बिम्ब और प्रतिबिम्ब सत्य है, क्योंकि द्रष्टान्त में प्रतिबिम्ब का असली स्वरूप जो बिम्ब रूप मुख है वह दर्पण के हटाने पर भी रह जाता है इसलिये सत्य है । और बिम्ब जो मुख है उसके साथ प्रतिबिम्ब अभिन्न है । इसलिये प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं बल्कि सत्य ही है । दर्पण में मुख दिखने वाला गर्दन वाले मुख से भिन्न नहीं है । तथापि जो उसमें बिम्ब वाले मुख से अलगपन उल्टापन और दर्पण में स्थितिपना ये दर्पण उपाधि के धर्म हैं। ये तीनों धर्म और उसका प्रतीति रूप ज्ञान वह भ्रान्ति है बिम्ब में ये धर्म नहीं हैं। इस वास्ते इन धर्मों का मिथ्यापने का निश्चय रूप बाध करके बिम्ब और प्रतिबिम्ब का सदा अभेद निश्चय होता है ।

इसी प्रकार अज्ञान उपाधि के सम्बन्ध से ही शुद्ध चेतन बिम्ब का अज्ञान रूप दर्पण में जीव रूप प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है । किन्तु विचार दृष्टि से देखें तो बिम्ब में ईश्वर भाव तथा प्रतिबिम्ब में जीव भाव वास्तव में नहीं है । क्योंकि उपाधि के हटते ही ईश्वर भाव व जीव भाव भी नष्ट हो जाता है । अतः ईश्वरपन व जीवपन मिथ्या है । किन्तु जीव रूप प्रतिबिम्ब ईश्वर रूप बिम्ब के साथ सदा अभिन्न है । परन्तु माया के बल से उस शुद्ध चेतन में ईश्वरपना, जीवपना, सर्वज्ञपना, अल्पज्ञपना, भेदपना और उनका प्रतीतिरूप ज्ञान भ्रान्ति है । इस वास्ते इन धर्मों के मिथ्यापने के निश्चय रूप बाध करके जीव रूप प्रतिबिम्ब और ईश्वर रूप बिम्ब का सदा अभेद निश्चय होता है । अर्थात् जीव ईश्वर से अभिन्न है ।

मुख्य जीव, ईश्वर के भेद के निषेध से उसके अन्तर्गत अन्य चार भेद भ्रान्ति का निषेध भी सहज सिद्ध होता है ।

समस्त भेद उपाधि के कारण ही हैं । उपाधि समस्त मिथ्या है इसलीये उनके द्वारा प्रतीत होने वाले भेद भी मिथ्या है । इसलिये अद्वैत ब्रह्म ही एकमात्र शेष रहता है । इस प्रकार बिम्ब प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से भेद भ्रान्ति की निवृत्ति होती है । भ्रान्ति ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु है उसे अध्यास भी कहते है और उसे ही भ्रान्ति कहते हैं ।

**प्राश्न १८७ - आत्मा में कर्ता -भोक्तापने की भ्रान्ति की निवृत्ति किस दृष्टान्त द्वारा समझना चाहिये ?**

**उत्तर** -स्फटिक में लाल पुष्प या लाल वस्त्र के रंग की प्रतीति के दृष्टान्त से आत्मा में कर्ता - भोक्तापने की भ्रान्ति दूर होती है । जैसे लाल वस्त्र के ऊपर रखी हुई स्फटिक मणि में वस्त्र का लाल रंग संयोग सम्बन्ध से भासता है अथवा निर्मल शीशे के ग्लास में रखा लाल शर्बत भी अपने अधिष्ठान ग्लास को लाल रंग के संयोग सम्बन्ध से लाल भासित होता है। परन्तु जो वस्त्र का गुण लाल रंग है वह वस्त्र के हटने पर मणि में लालिमा प्रतीत नहीं होती और न शर्बत पी लेने के बाद ग्लास लाल दिखता है । इस वास्ते मणि का नीला, पीला, लाल रंग नहीं है किन्तु स्फटिक मणी में रंग के संयोग सम्बन्ध के कारण मणि में भ्रान्ति से मिथ्या भासता है । इसी प्रकार अन्तःकरण का धर्म जो कर्ता - भोक्तापना है वह आत्मा में तादात्म्य सम्बन्ध से भासता है । परन्तु वह अन्तःकरण का धर्म है, क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय हो जाने से आत्मा में कर्ता- भोक्ता धर्म प्रतीत नहीं होता । इस वास्ते कर्ता - भोक्ता आत्मा के धर्म नहीं है किन्तु आत्मा में भ्रान्ति से प्रतीत होते है । इस प्रकार आत्मा से कर्ता - भोक्ता की भ्रान्ति, स्फटिक मणि में भासित लाल रंग के दृष्टान्त से दूर होती है ।

**प्रश्न- १८८ - आत्मा में देहादिक की संग भ्रान्ति किस दृष्टान्त से निवृत्त को जा सकेगी ?**

**उत्तर -** घटाकाश के दृष्टान्त से संग भ्रान्ति की निवृत्ति होती है । जैसे घट उपाधि वाला आकाश को घटाकाश कहा जाता है । वह घटाकाश घट के साथ भासित होता है तथापि घट के धर्म उत्पत्ति नाश इधर-उधर हिलना आना - जाना किसी के द्वारा होने पर भी वे समस्त धर्म उसमें स्थित आकाश को स्पर्श नहीं कर पाते । इसलिये आकाश असंग है और आकाश का सम्बन्ध घट के साथ भासता है वह भ्रान्ति है ।

उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि संघात् रूप उपाधि वाले को जीव कहते हैं । वह जीव स्वरूप आत्मा देह संघात् के साथ भासता है । तथापि देह संघात् के धर्म जन्म - मरणादिक हैं वे आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते । क्योंकि संघात् दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है । इसलिये आत्मा संघात् से न्यारा है याने असंग है । जब आत्मा संघात से अलग है तो आत्मा का संघात के साथ अहंता रूप सम्बन्ध भी नहीं क्योंकि संघात् पंचभूत का है । और स्त्री, धन, पुत्र, गृहादिक में ममता रूप सम्बन्ध भी नहीं, इस प्रकार आत्मा असंग है । इसका संघात् के साथ अहंता ममता रूप सम्बन्ध भ्रान्ति से भासता है ।

**प्रश्न १८९ - विकार भ्रान्ति किस दृष्टान्त से दूर होती है ?**

**उत्तर -** रज्जु में कल्पित सर्प के दृष्टान्त से विकार भ्रान्ति की निवृत्ति होती है । जैसे मंद अंधकार में रस्सी के पड़े रहने से उसके देखने के लिये अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र से निकलती है । वह वृत्ति अंधकार दोष के कारण रज्जु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाती है । इसलिये उस वृत्ति से रस्सी का आवरण भंग नहीं हो पाता है । तब रज्जु उपाधि वाले चैतन्य के आश्रित रही मूल अविद्या कार्य करने के लिये प्रस्तुत होती है एवं सर्प रूप विकार को प्राप्त होती है । वह सर्प दुग्ध के परिणाम दही की तरह अविद्या का परिणाम है और चेतन का विवर्त है । याने रज्जु उपाधि वाले चैतन्य का विवर्त है, परिणाम (विकार) नही है ।

उसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य के आश्रित स्थित जो मूल अविद्या है वह प्रारब्ध के निमित्त से कार्य करने को प्रस्तुत होके जड़ चैतन्य (चिदाभास) प्रपंच रूप विकार को धारण करती है । वह प्रपंच अविद्या का परिणाम है और अधिष्ठान चैतन्य आत्मा का विर्वत है । अधिष्ठान से अन्यथा रूप, नाम और प्रकाश के आकार भासित होने को विवर्त कहते हैं । जैसे, रज्जु का विवर्त सर्प है ।

**प्रश्न १९० - ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता की भ्रान्ति की निवृत्ति किस दृष्टान्त से समझना चाहिये ?**

**उत्तर -** ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता की भ्रान्ति कनक (स्वर्ण) में कुण्डल की प्रतीति के द्रष्टान्त से दूर होती है । जैसे कनक और कुण्डल का कार्य - कारण भाव द्वारा ही भेद प्रतीत होता है जो कि कल्पित है और कनक से कुण्डल का भिन्न स्वरूप दिखता नहीं । इसलिये वास्तव अभेद है । अस्तु ! कनक से भिन्न कुण्डल की सत्ता नहीं है । उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् का कार्य - कारण भाव से ही विशेष करके भेद प्रतीत होता है जो कल्पित है । विचार करके देखने से तो अस्ति, भाति, प्रिय रूप से भिन्न नाम, रूप, जगत सत्य सिद्ध नहीं होता किन्तु मिथ्या सिद्ध होता है । जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है वह वस्तु उससे भिन्न सिद्ध नहीं होती । इसलिये ब्रह्म से जगत् का वास्तव अभेद है । अस्तु ! ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता नहीं है ।

इस प्रकार कनक में कुण्डल की प्रतीति के दृष्टान्त से ब्रह्म से भिन्न जगत के सत्यता की भ्रान्ति दूर होती है ।

**प्रश्न १९१- सामान्य चैतन्य ब्रह्म और विशेष चैतन्य में क्या भेद है तथा उससे क्या निश्चय करें ?**

**उत्तर -** अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्ति में जो सामान्य चैतन्य ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास है उसे विशेष चैतन्य कहते हैं । अर्थात् चैतन्य ब्रह्म के लक्षण से रहित होकर भी चैतन्य की तरह प्रतीत होता है

उसे चिदाभास कहते हैं। यह चिदाभास को विशेष चैतन्य इसलिये कहते हैं कि यह अल्पदेश व अल्पकाल याने अन्त:करण में और जाग्रत, स्वप्न वा अज्ञान काल में ही प्रतीत होता है । जो वस्तु अल्प काल व अल्पदेश में स्थित रहे उसे विशेष कहते हैं ।

जो वस्तु अधिक देश व अधिक काल में स्थित हो उसे सामान्य कहते हैं । सामान्य स्वरूप अल्प काल में उपाधि के कारण भासित होने से मिथ्या है ।

सामान्य चैतन्य जो अस्ति, भाति, प्रिय है वह सर्वत्र समान है। परन्तु उससे बोलना, चलना इत्यादिक विशेष व्यवहार नहीं होता है और जहाँ अन्तःकरण रूप उपाधि होती है वहाँ चिदाभास रूप से विशेष चैतन्य होकर के बोलना - चलना, कर्ता-भोक्ता, लोक - परलोक में आवागमन इत्यादिक विशेष व्यवहार होते हैं । सामान्य चैतन्य जो ब्रह्म है वह सत्य है और उपाधि से भासने वाला विशेष चैतन्य चिदाभास मिथ्या है ।

उसी प्रकार (१) पाप - पुण्य का कर्तापना (२) सुख-दुख का भोक्तापना (३) परलोक तथा इसलोक में आना जाना (४) जन्म - मरण (५) चौरासी लाख योनि की प्राप्ति (६) बन्ध मोक्ष (७) ज्ञान - अज्ञान इत्यादिक संसार रूप धर्म भी चिदाभास के होने से मिथ्या है । अस्तु ! विशेष चैतन्य चिदाभास और उसके उपरोक्त समस्त धर्म मैं नहीं और वे मेरे नहीं किन्तु ये सब मुझ सामान्य चैतन्य आत्मा में कल्पित है । मैं इनका अधिष्ठान सामान्य चैतन्य इनसे न्यारा हूँ ।

अतः अस्ति, भाति, प्रिय रूप सामान्य चैतन्य जो ब्रह्म है वह मैं हूँ । मैं वह अस्ति, भाति, प्रिय रूप सामान्य चैतन्य ब्रह्म हूँ ऐसा ओतप्रोत भाव से निश्चय करना चाहिये । मैं आकाश की तरह सर्वत्र परिपूर्ण हूँ तथा समस्त नाम, रूप दृश्य जगत् का अधिष्ठान निर्विकार ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय करने से बन्ध की निवृत्ति होती है ।

## प्रश्न १९२ - जीव के अन्तःकरण में कितने दोष हैं तथा उनकी निवृत्ति का क्या उपाय है ?

**उत्तर -** समस्त जीवों के अन्तःकरण में मल, विक्षेप, आवरण यह तीन दोष रहते हैं । (१) मल नाम पाप वासना का है । (२) विक्षेप नाम चित्त की चंचलता का है । (३) आवरण नाम अपने निजस्वरूप को न जानने का है।

उपरोक्त तीनों दोषों को दूर करने हेतु वेद में तीन काण्ड बने हैं, जो जीव के मल दोष को दूर करने हेतु निष्काम कर्म करने का विधान करता है । विक्षोप दोष को दूर करने के लिये सगुण अथवा निर्गुण सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर की उपासना का निरूपण किया है तथा अज्ञान रूप तृतीय दोष की निवृत्ति के लिये ज्ञान काण्ड का प्रतिपादन किया है ।

जब मन से पापवासना निवृत्त हो जावे तो समझे कि मल दोष निवृत्त हो गया है । जब चित्त की एकाग्रता प्राप्त होकर आत्मा को जानने की इच्छा जाग्रत हो जावे तो समझे कि विक्षेप दोष दूर हो गया है । जब अपने को आत्मस्वरूप दृढ़ता से निश्चय करले तब समझे कि अज्ञान दोष दूर हो चुका है । जिस अन्तःकरण में उपरोक्त तीनों दोष नहीं उसके लिये शास्त्र का उपदेश भी नहीं है । किन्तु जिसके अन्तःकरण में केवल एक अपने स्वरूप को न जानने रूप आवरण (अज्ञान) दोष ही है उसको केवल ज्ञान काण्ड का ही अधिकार है ।

यज्ञ, दान, तीर्थ, ब्रत, जप, होम, कुआँ, तालाब आदि बनाना तथा संध्या तर्पणादिक जितने भी शरीर से होने वाले शुभ कर्म है वह सब कर्म कोटि में आते हैं । ध्यान योगादिक जितने भी मानसिक क्रियायों हैं वह सब उपासना कोटि में आते हैं । केवल अपने आत्मा को ब्रह्म रूप कथन करने वाले शास्त्र ज्ञान कोटि में है ।

जब जीव, परमात्मा को अपना आत्मा सम्यक् रूप से जान लेता है तो कृत कृत्य हो जाता है । इससे आगे कुछ जानना शेष नहीं ।

वेदसहित सर्व संसार को स्वप्नवत् जानना है । जो इससे आगे थोड़ा भी कर्त्तव्य मानते हैं वह आरूढ़ पतित हैं, भ्रान्त जीव है ।

ज्ञान कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता बल्कि केवल अज्ञान को दूर करता है । ज्ञान न ब्रह्म को उत्पन्न करता है न ब्रह्म और आत्मा की एकता को करता है। उसका काम केवल अज्ञान को दूर करना मात्र है । अज्ञान के हटते ही जो शुद्ध तत्त्व पूर्व से है वह तो स्वतः है ही, उसका साक्षात्कार हो जाता है ।

**प्रश्न १९३ - यह कैसे जाने कि ब्रह्म अखंड पूर्ण है ?**

**उत्तर -** हे आत्मन ! तुम सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मात्मा की भेद रूप से उपासना कर के एक पूर्ण व अखंड ब्रह्म को अपने विचारों में अपूर्ण व खंड मत करो। जो अपूर्ण है, जो अल्प है वह अनित्य है, जड़ है, दुःख रूप है तथा जो विभु है, भुमा है, पूर्ण है वही नित्य है ।

अपने प्रत्यक् आत्मा से यदि तुमने ब्रह्म को पृथक् माना तो वह आत्मा से पृथक् अनात्मा सिद्ध होगा तथा वह अपरिच्छिन्न न होकर परिच्छिन्न होगा । और यदि उस ब्रह्म से इस आत्मा को पृथक् माना तो प्रत्यक् आत्मा को असत् जड़, दु:ख रूपता सिद्ध होगी । प्रत्यक् आत्मा की असत्, जड़, दुःखरूपता किसी को स्वीकार नहीं । शास्त्र तथा अनुभव से भी आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप ही है और जो-जो सच्चिदान्द स्वरूप है वह ब्रह्म ही है ऐसा श्रुति कथन है । अतः अपने आत्मा को सम्यक् प्रकार से ब्रह्म रूप ही जानो इससे पृथक् न मानो । इसी एकत्व बोध में जीव की कुशलता (क्षेम) है अन्यथा जन्म-मरण संसार भेद भ्रान्ति का ही फल है । उसमें जीव का लाभ नहीं है ।

**प्रश्न १९४ - परमात्मा का क्या स्वरूप है और उसका साक्षात्कार किस प्रकार होता है ?**

**उत्तर -** हे आत्मन् ! यदि शुद्ध चैतन्यात्म ब्रह्म तुम्हारे अन्दर प्रकाशक न होवे तो बुद्धि मनादिक जड़ पदार्थों की समस्त चेष्टा कैसे जानी जावे ?

क्योंकि जड़ को 'स्व-पर' का ज्ञान नहीं होता है और परमात्मा किसी अन्य देश में कचहरी लगाकर नहीं बैठा है । इस नाम, रूप संसार को ये चैतन्य आत्मदेव ने ही गढ़ा है और वे ही इसमें प्रवेश कर समस्त क्रियायें कराते हैं । क्योंकि परमात्मा से भिन्न और कोई तो चैतन्य है ही नहीं । इससे यह विचारना चाहिये कि जो इस मनादिक जड़ संघात् की चेष्टा करता है तथा जो चेष्टाओं का प्रकाशक है वही परमात्मा का रूप है और वही तेरा अपना स्वरूप है । सुषुप्ति काल में जो केवल अज्ञान का दृष्टा है और जाग्रत काल स्वप्नकाल में जो अज्ञान सहित अज्ञान के कार्य रूप जगत् का दृष्टा है वही ब्रह्म का स्वरूप है । जो अन्तःकरण की प्रिय, मोद तथा प्रमोद वृत्तियों के भावाभाव को अनुभव करने वाला है तथा सात्त्विक, राजसिक, तामसिक मन की वृत्तियों को जानने वाला है तथा समाधि आदि जन्य सुख का तथा विक्षेपजन्य दुःख का जो अन्तर अनुभव करता है तथा आप किसी भी प्रमाण से अनुभव में नहीं होता वही तुम्हारा आत्मा ही परमात्मा है । जिसके द्वारा समस्त त्रिपुटियाँ अन्तर बाहर निरंतर सिद्ध होती है । ज्ञान-अज्ञान, बन्ध मोक्ष, ग्रहण - त्याग आदिक मन की कल्पना का तथा मनादिकों का जो दृष्टा है वही तुम्हारी आत्मा परमात्मा है ।

जो मन, वाणी के द्वारा जानने में आता है वह सब अनात्मा वस्तु है । वह ब्रह्म का स्वरूप कभी नहीं हो सकता । अर्थात् ब्रह्म 'यह रूप', 'वह रूप' से नहीं है । वह दृश्य नहीं द्रष्टा है । जो मन वाणी से अतीत है और मन वाणी सहित मन वाणी की कल्पना को जो सदा जानता है, सत्ता स्फुर्ति देता है वह तुम्हारा आत्मा ही ब्रह्म है । देश देशान्तर को जब मन जाता है और पुनः आता है पुनः आकर दूसरे कार्य में लगता है, कभी शुभाशुभ की कल्पना करता है, यह सर्व मनका व्यवहार जिससे जाना जाता है वह तुम्हारा स्वरूप ही परमात्मा है ।

**प्रश्न १९५ - मूर्त्ति पूजा का शास्त्रों में प्रतिपादन करने का क्या अभिप्राय है ?**

**उत्तर -** मूर्ति पूजा का विधान उपनिषदों में तो है नहीं, क्योंकि वेदान्त साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षुओं के लिये है, किन्तु जिनकी बुद्धि की

मन्दता है जो वेदान्त विचार में असमर्थ है उसकी स्थूल बुद्धि को वेदान्त विचार के योग्य बनाने हेतु व्यासजी ने अपने अठारह पुराणों में कारण - ब्रह्म तथा कार्य ब्रह्म भिन्न - भिन्न शब्दों से वर्णन किया है । ब्रह्म का चाहे जो नाम दिया हो तथापि कारण ब्रह्म उपास्य है और कार्य ब्रह्म त्याज्य है ।

**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।**

केन. उप. १ / ६

भावार्थ :- आंख ब्रह्म नहीं है, रूप ब्रह्म नहीं है अपितु जिसकी शक्ति से आंख व रूप देखे जाते है, वह ब्रह्म का वास्तविक रूप है । लोक मत में जिसे आंखो से देख ब्रह्म बताया जाता है वह ब्रह्म नहीं हैं उसकी ब्रह्म रूप से उपासना मत करना ।

याने कारण ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये । कार्य ब्रह्म की उपासना त्याग करने योग्य है, क्योंकि सबमें जो कारण रूप होता है वही अनन्त होता है और वही उपास्य होता है । कार्य तुच्छ है ऐसा जानकर त्याग कर देना चाहिये ऐसा ही वेद का सिद्धान्त है । व्यासजी का लक्ष्य नाना पुराणों को रचकर नाना देवताओं की उपासना कराना ऐसा अभिप्राय नहीं था, बल्कि जो पंडित गुरु, साधु, भक्त व्यासजी का अभिप्राय ठीक से नहीं समझ पाते हैं वे ही किसी देवता को श्रेष्ठ व किसी को निकृष्ट कहकर खंडन करते रहते हैं ।

मूर्तियाँ माया का परिणाम है और चेतन का विवर्त है इसलिये विष्णु, कृष्ण, राम, गणेश, देवी आदि कार्य ब्रह्म है । उनकी उपासना करना चाहिये ऐसा जहाँ पुराणों में आज्ञा रूप से लिखा है वहाँ व्यासजी का तात्पर्य यह है कि समस्त आकारों का बाध करके कारण रूप से उनकी उपासना करनी चाहिये ? क्योंकि आकार कार्य होने से तुच्छ है और आकार में जो लक्ष्य वस्तु अस्ति, भाति, प्रिय है वह कारण सत्य है । पर किसी

की बुद्धि मंद होने से केवल कार्य याने आकार रूप मूर्ति में ही स्थिर रह सके और कारण में स्थिर नहीं हो सके तो वह मूर्ति में ही स्थिर करे । ऐसा करने से जब बुद्धि स्थिर हो जावेगी तब कारण ब्रह्म की उपासना में लग जावेगी, किन्तु कार्य ब्रह्म को सत्य मानकर मूर्ति पूजा करना चाहिये ऐसा व्यासजी का लक्ष्य नहीं है । कार्य ब्रह्म की उपासना तो कारण ब्रह्म के ज्ञान हेतु ही प्रचलित की गई है । ब्रह्म जगत का कारण है, सत्यकाम है सत्यसंकल्प है, सर्वज्ञ है, स्वतन्त्र है, सर्व का प्रेरक है, कृपालु है, सर्व अन्तर्यामी है, ईश्वर के ऐसे घर्मों का चिन्तन करवाना शास्त्र का तात्पर्य है। मूर्ति का चिन्तन करवाने में शास्त्र का अभिप्राय नहीं है ।

शास्त्र में अनेक आकारों की मूर्तियों का वर्णन किया है किन्तु वे समस्त मूर्तियाँ कारण ब्रह्म की उपलक्षण (संकेत द्वारा बोध कराने वाली) है ऐसे समझाने के लिये नाना आकारों का वर्णन लिखा है ।

जो वस्तु जिसके एक देश में होकर के तथा जो सदैव भी न रहने वाली हो तथा जिस स्थान में हो वह उस स्थान को अन्य स्थान से पृथक् करके जनाती है उसे व्यावर्तक कहते हैं । जैसे ''जहाँ वह कौवा बैठा है'' वह देवदत्त का घर है । इस वाक्य में घर का कौवा उपलक्षण हैं । क्योंकि कौवा घर के एक देश में होता है फिर कभी होता है कभी नहीं होता । जब बैठता है तो वह अन्य घरों से उस घर को अलग करके दिखाता है । इस वास्ते कौवा इस जगह उपलक्षण कहलाता है लक्ष्य वस्तु में लक्षण न होते हुए जो लक्षण का कार्य करे उसे उपलक्षण कहते हैं ।

इसी प्रकार जगत् का कारण ब्रह्म है उस कारण ब्रह्म के एक देश में विष्णु, राम, कृष्ण आदिक मूर्ति है और वह भी कदाचित होती है सब समय नहीं होती । और वह अन्य समस्त से कारण ब्रह्म को पृथक् करके जनवाती है । क्योंकि चतुर्भुजादि मूर्ति कारण ब्रह्म में ही होती है अन्य में नहीं, होती इसलिये कारण ब्रह्म का उपलक्षण है ।

उपलक्षण का मात्र इतना ही प्रयोजन होता है कि उससे विशेष्य वस्तु का ज्ञान होता है । जैसे कौवा रूप विशेषण से विशेष्य रूप देवदत्त

के घर का बोध होता है । इसके अलावा कौवे का अन्य कोई कार्य नहीं उसी प्रकार चतुर्भुजादिक मूर्ति से भी निराकार ब्रह्म का ही ज्ञान होता है । अन्य कोई प्रयोजन के लिये मूर्ति पूजा, उपासना का प्रतिपादन करने का लक्ष्य नहीं है । शास्त्र का अभिप्राय न समझने वाले कितने ही मंद बुद्धि वाले उपासक मूर्तियों के आकारों में आग्रह कर लड़ते रहते हैं। जो लक्ष्य घर को दूर रहकर दर्शाते हुए कौवे के समान ही है । ''नाम रूप दोउ ईस उपाधि'' । (रामायण)

अस्तु कारण ब्रह्म उपास्य है एवं कार्य ब्रह्म त्याज्य है । माया विशिष्ट चेतन को कारण ब्रह्म कहते हैं । मायाकृत कार्य विशिष्ट चेतन को कार्य ब्रह्म कहते हैं ।

वास्तव में तो परमात्मा में कोई नाम या रूप नहीं है। लेकिन मंद बुद्धि मनुष्यों को उपासना करने के लिये नाम, रूप रहित परमत्मा में मायाकृत कल्पित अनेक नाम, रूप का वर्णन किया है ।

**प्रश्न १९६- मंद बुद्धि जीव इष्टों की निन्दा कर सकते हैं किन्तु पुराणों में भी अन्य इष्टों की निन्दा क्यों है ?**

**उत्तर -** यद्यापि समस्त पुराणों के कर्ता एक वेदव्यास हैं । उन्होंने स्कंदपुराण में शिवजी को ईश्वर और अन्य देवों को जीव कहा है (कार्य रूप) उसी प्रकार विष्णु पुराण में विष्णु को कारण ब्रह्म तथा अन्य सभी शिवादिक को कार्य ब्रह्म (जीव रूप) कहा है । और सूर्य पुराण में सूर्य को ईश्वर तथा विष्णु आदिक को जीव रूप से कहा है । इस प्रकार व्यसजी के वचनों में विरोध तो अवश्य प्रतीत होता है ।

तथापि विष्णु, शिव, गणपति, देवी, सूर्य समस्त ईश्वर ही हैं। जिस प्रकरण अथवा पुराण में जिन अन्य देवों की निन्दा की हैं वहाँ उन देवों की निन्दा में व्यासजी का अभिप्राय नहीं है, बल्कि विष्णु पुराणादिक में जो विष्णु आदिक को कारण रूप दिखाकर शिवादिक

को कार्य रूप दिखाकर, विष्णु की महानता समझाकर विष्णु भक्तों को विष्णु की उपासना में प्रवृत्ति कराने का ही प्रयोजन है । उसी प्रकार शिवपुराण में शिव को महान व अन्य देवों को तुच्छ कर बताने का अभिप्राय अन्य देवों की निन्दा नहीं बल्कि शिव भक्तों को अपने इष्ट में विशेष श्रद्धा उत्पन्न कराकर उपासना में प्रवृत्त कराने का ही एकमात्र प्रयोजन है ।

यदि एक पुराण में अन्य की निन्दा कर उसकी उपासना त्याग करने के हेतु वर्णन किया हो तो फिर समस्त देवों की उपासना का त्याग ही हो जावेगा । अस्तु ! अन्य की निन्दा एक की स्तुति हेतु है, सब की उपासना त्याग करने हेतु नहीं है ।

**प्रश्न १९७ - ''मैं ब्रह्म रूप हूँ'' इस प्रकार का अनुभव ज्ञान सर्व पुरुषों को उत्पन्न होता है अथवा किसी - किसी एक पुरुष को ही होता है ?**

**उत्तर -** जो पुरुष ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख से श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक वेदान्त शास्त्र का याने जीव ब्रह्म एकत्व प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का श्रवण करता है तथा महावाक्यों में भाग - त्याग लक्षणा के द्वारा 'तत पद तथा त्वं पद' के वाच्यार्थ का परित्याग कर लक्ष्यार्थ से अपने आत्मा को परमात्मा स्वरूप ही जानता है उसी पुरुष को अपने में सच्चिदानन्द रूपता के ज्ञान द्वारा ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार जीव तथा ब्रह्म को अभेद रूप से जनाने वाली अन्तःकरण में श्रद्धा वृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु वेदान्त श्रवण से रहित पुरुष को यह अभेद सम्बन्धी अनुमिति (बुद्धि) उत्पन्न नहीं होती है । जो - जो पदार्थ दृश्य रूप होता है वह मिथ्या होता है । इस अनुमान द्वारा अधिकारी पुरुष को द्रष्टा ब्रह्म से भिन्न सर्व प्रपंच में मिथ्यात्व अनुमिति (बुद्धि) उत्पन्न होती है ।

**जीवः परस्मान्न भिद्यते यः सच्चिदानन्द लक्षणः ।**
**स परस्मान्न भिद्यते यथा परमात्मा तथा चायम् तस्मात्तथा ॥**

जीव परमात्मा से भिन्न नहीं वह सच्चिदानन्द रूप है । जो - जो सच्चिदानन्द रूप होता है वह परमात्मा से भिन्न नहीं होता है । जैसे कि परमात्मा है वैसे ही जीव परमात्मा की तरह सचिदानन्द रूप है ।

**प्रश्न १९८ - आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है इसमें क्या प्रमाण है ?**

**उत्तर -** श्रुति, स्मृति, युक्ति तथा अनुभव द्वारा जीवात्मा सत, चित तथा आनन्द रूप ही है ।

**अविनाशी वा अरेऽयमात्मा । सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः।**

हे मैत्रेयी ! यह आत्मा विनाश रहित है । यह सत्ता मात्र, नित्य, शुद्ध तथा ज्ञानस्वरूप है । तथा -

**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः ।**

अर्थात् यह जीवात्मा नित्य, सर्वत्र व्यापक, कूटस्थ, अचल तथा सनातन है इत्यादि श्रुति स्मृति वचन द्वारा जीवात्मा की सत्यरूपता सिद्ध होती है ।

फिर यदि जीवात्मा सत्यरूप न हो तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम रूप दोष की प्राप्ति होगी । याने किये हुए पुण्य -पाप रूप कर्मों का फल भोग बिना जो नाश है वह कृतनाश कहलाता है । तथा बिना किये कर्म का जो जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःख भोग है उसे अकृताभ्यागम कहते हैं । इन दोनों दोषों की निवृति तभी हो सकती है जब आत्मा की सत्यरूपता हो । अतः इन युक्ति एवं प्रमाण से आत्मा की सत्यरूपता सिद्ध होती है । तथा :-

अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति । आत्मवास्य ज्योति र्भवति योऽयं विज्ञानमयः । त्रिषु धामसु यद्धोयं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् । तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।

यह आत्मा स्वप्न अवस्था में ज्योति स्वरूप है । अर्थात् स्वप्न अवस्था में सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि बाह्य ज्योति का अभाव होने

पर भी आत्मा के प्रकाश से समस्त स्वप्न व्यवहार होता है । यह आत्मा विज्ञान रूप है तथा जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति में यथा क्रम विद्यमान हैं । विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये तीनों भोक्ता है तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण उनके भोग्य पदार्थ हैं तथा अज्ञान अथवा अन्तःकरण की वृत्ति रूप जो भोग हैं उन सर्व से विलक्षण चैतन्य मात्र साक्षी रूप मैं हूँ इत्यादि श्रुति द्वारा जीव तथा आत्मा की चैतन्य रूपता सिद्ध होती है । और फिर -

**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।**
**क्षेत्रं क्षत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥**

गीता १३ । ३३

हे अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य समस्त लोक को प्रकाश करता है। उसी प्रकार आत्मा समस्त देह संघात् को प्रकाश करता है इत्यादि स्मृति वचन द्वारा आत्मा की चैतन्य रूपता सिद्ध होती है ।

यदि यह आत्मा चैतन्य रूप न हो तो प्रकाश (ज्ञान) के अभाव में इस समस्त जगत् में अंधता प्राप्त हो जावेगी । अतः आत्मा चैतन्यरूप है । तथा :-

यो वै भूमा तत्सुश्वम्। को ह्येवान्यक्तः प्राण्यात् यदेष। आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानंदयति । देश काल तथा वस्तु परिच्छेद से रहित जो आत्मा है वही सुख रूप है । यदि यह आत्मा सुख रूप न हो तो देह में अपान के गन्दे व्यापार को, प्राण के व्यापार को तथा देह इन्द्रिय के व्यापार को बीमार अवस्था में कौन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा । आत्मा ही से सब लोगों का जीवन सुखरूप होता है। फिर -

**योऽन्तः सुखोऽन्तोरात्मा रामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः**

जो अन्तरात्मा सुख स्वरूप है वह अन्तरात्मा ज्योतिरूप है । इत्यादि गीता वचन द्वारा जीवात्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है । कदाचित् यह आत्मा आनन्द रूप न हो तो सर्वलोक को अपने आत्मा में

परम प्रीति नहीं होनी चाहिये । किन्तु सर्वलोक की अपने आत्मा में परम प्रीति होती है ।

सुषुप्ति से उठे पुरुष का मैं सुख से सोया था इस प्रकार की स्मृति बिना अनुभव के तो हो नहीं सकती तथा सुषुप्ति में विषयजन्य आनन्द तो है नहीं बल्कि अपने स्वरूप का ही आनन्द होता है । इत्यादि युक्ति द्वारा भी जीवात्मा की आनन्द रूपता सिद्ध होती है । फिर ''मैं कदापि अप्रिय न होऊँ'' इस प्रकार के अनुभव से जीवात्मा को आनन्दरूपता सिद्ध होती है । अस्तु जीवत्मा सत, चित, आनन्द रूप श्रुति स्मृति, वचन द्वारा एवं युक्ति व अनुभव द्वारा भी सिद्ध होता है । तथा द्रष्टान्त रूप परमात्मा में सच्चिदान्द रूपता श्रुति के प्रमाण से सिद्ध ही है ।

**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्म ।**

ब्रह्म सत्य रूप, ज्ञान रूप, अनन्त रूप तथा आनन्द रूप है । तथा 'जीव परस्मान्न भिद्यते' याने जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है । क्योंकि 'सच्चिदानन्द लक्षणात्वात्' याने सच्चिदानन्द रूप होने के कारण ''जो - जो सच्चिदानन्द रूप होता है वह परमात्मा से भिन्न नहीं होता है ।''

**प्रश्न १९९ - कार्य अविद्या कितने प्रकार की होती है ?**

**उत्तर -** कार्य अविद्या चार प्रकार की होती है ।

(१) अनित्य में नित्यत्व बुद्धि (२) अशुचि में शुचित्व बुद्धि (३) दुःख में सुख बुद्धि (४) अनात्मा में आत्म बुद्धि ।

(१) स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक आदि कर्म, उपासना के फल रूप होने से अनित्य है । इस अनित्य में नित्य बुद्धि रखना यह प्रथम अविद्या है ।

(२) मल, मुत्रादि से पूर्ण होने से अशुद्ध अपने शरीर में तथा स्त्री, पुत्रादिक के शरीर में शुचित्व बुद्धि का होना यह दूसरी अविद्या है ।

(३) अन्य को पीड़ा रूप दुःख में सुख बुद्धि तथा दुःख के साधन जीव हत्या, सुरापान, वेश्यागमन, चोरी आदि दुःख के साधन में सुख के साधन का बुद्धि होना तीसरी अविद्या है ।

(४) अनात्मा रूप देह तथा इन्द्रियों में मैं पने की बुद्धि चौथी अविद्या है ।

**प्रश्न २०० - जीव के जन्म - मरण के हेतु कितने प्रकार के कर्म होते हैं तथा उनकी निवृत्ति का क्या साधन है ?**

**उत्तर -** जन्म - मरण को देने वाले कर्म तीन प्रकार के होते हैं तथा तीन प्रकार का कर्म भी विहित तथा निषिद्ध इस भेद से दो प्रकार का होता है।

श्रुति तथा स्मृति रूप शास्त्र जिस कर्म को करने की आज्ञा देते हैं उस कर्म को विहित कर्म कहते हैं । जैसे -सत्य बोलना, अहिंसाव्रत रखना, संध्या वन्दन करना आदि ।

श्रुति तथा स्मृति रूप शास्त्र जिन कर्मों को करने के लिये मना करते हैं उसे निषिद्ध कर्म कहते हैं । जैसे - जीव हत्या, शराब पीना, चोरी करना, पर स्त्री मैथुनादि ।

विहित कर्म से पुरुष में धर्म की उत्पत्ति तथा निषिद्ध से अधर्म की उत्पत्ति होती है । इस धर्म अधर्म को शास्त्र में अदृष्ट अथवा अपूर्व नाम से भी कहा जाता है । इसमें धर्म रूप अदृष्ट पुरुष को सुख रूप फल की प्राप्ति कराता है तथा अधर्म रूप अदृष्ट से पुरुष को दु:ख रूप फल की प्राप्ति कराता है । पूर्व जन्म में अथवा इस जन्म में किये हुए जिन कर्म फलों का अभी भोग जीव ने नहीं भोगा है, जो अभी अपरिपक्व अवस्था में अदृष्ट रूप है उन समस्त कर्मों को संचित कर्म कहते हैं ।

तत्त्वज्ञान होने के पूर्व जो कर्म होते हैं उनको आगामी, क्रियमाण कर्म कहते हैं ।

संचित् कर्म में से फल देने को प्रस्तुत कर्म, वर्तमान शरीर का आरम्भ करते हैं उन कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं ।

तीनों कर्मों के नाश का साधन :- संचित तथा आगामी कर्मों का नाश तो आत्मसाक्षात्कार होने से होता है । अन्य कोटि प्रयत्न से

भी नाश नहीं होता है । क्योंकि जिन अशुभ कर्मों के नाश हेतु शुभ कर्म करेगें, वे शुभ क्रियाओं के करते समय भी अवश्य थोड़ा पाप भी होगा क्योंकि बिना पाप के कोई क्रिया सम्भव ही नहीं है । शुभ कर्म का फल भोगने हेतु जन्म - ग्रहण करना होगा एवं पुण्यक्षय होने पर भी शरीर पात होगा ही । इस प्रकार कर्मों द्वारा संचित् तथा आगामी कर्म का नाश नहीं होता । केवल ज्ञान से ही प्रारब्ध छोड़कर सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसमें गीता श्रुति का वचन प्रमाण रूप है -

**ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूते तथा**

अर्थात ज्ञानाग्नि से याने ''मैं ब्रह्म रूप हूँ'' ब्रह्म साक्षात्कार होने से पुरुष के प्रारब्ध कर्म छोड़ सब कर्मों का नाश होता है । श्रुति भी इसी बात को कहती है -

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।**

२ / २/ ८ मुण्डको. उप.

प्रारब्ध कर्म भोग बिना नाश नहीं होता चाहे करोड़ो कल्प बीत जावे ।

**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।**
**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि ।।**

पुरुष अपने किये शुभ अथवा अशुभ कर्म को अवश्य भोगता है । याने जिन कर्मों का फल भोगने हेतु शरीर मिल चुका है उन कर्मों का क्षय तत्त्वज्ञान द्वारा या अन्य विरोधी साधन द्वारा भी नाश नहीं होता । वह तो भोग भुगवाकर ही शान्त होता है, किन्तु बिना भोग के करोड़ो कल्प तक भी नाश नहीं होता । ज्ञान हो जाने से कर्म में कर्ता बुद्धि तथा फल में भोक्ता बुद्धि का अभाव हो जाने से आभास रूप कर्म दग्ध धान्य की तरह पुनः फल देने में समर्थ नहीं होते । इसलिये ज्ञानी का आगामी पुनर्जन्म नहीं होता है यानि ज्ञान होने के बाद किये कर्म पुर्नजन्म नहीं दे सकते चाहे

वह शुभ क्रिया का पुण्य फल हो चाहे पाप क्रिया का अशुभ फल हो, वह दोनों से मुक्त हो जाता है । ज्ञानी के कर्म दग्ध वीज की तरह निर्वीज हो जाता है ।

हाँ इसके शुभ कर्म फल का भोग उन लोगों को होता है जो इनकी सेवा भक्ति करते हैं तथा अशुभ कर्मों का फल उन्हें भोगने को मिल जाता है जो उनकी निन्दा, तिरस्कार तथा उनके प्रति दोष दृष्टि करते हैं इसलिये कहा है -

**सहृदः साधु कृत्यं दिषन्तः पाप कृत्यम् ।**

ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा तत्त्वज्ञानी का केवल कर्मों का ही नाश नहीं होता बल्कि अस्मिता, अविद्या, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष इन पाँचों क्लेशों की भी निवृति हो जाती है ।

(१) चार प्रकार की अविद्या तथा कारण अविद्या अज्ञान ।

(२) अस्मिता नाम अहंकार का है ।

(३) यह वस्तु मुझे प्राप्त हो इसका नाम राग है ।

(४) क्रोध का नाम द्वेष है ।

(५) मैं तथा मेरा रूप से ग्रहण किये हुए देहादिक पदार्थों का त्याग सहन न करने का नाम अभिनिवेष है । इन पाँचों प्रकार के क्लेशों का ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा नाश हो जाता है । स्मृति में भी कहा है :-

**ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशे :**

आत्मदेव को जानकर सब पाप नष्ट हो जाते हैं कैसे जाने ? अहं ब्रह्मास्मि रूप से साक्षात्कार करने से अविद्यादि पाँच क्लेश रूप पाश से जीव मुक्त होता है याने अधिकारी पुरुष स्वयं प्रकाश परमात्मा का ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार साक्षात्कार करने से उसके समस्त अनादि संचित् कर्म नष्ट हो जाते है ऐसा श्रीकृष्ण कहते है ।

**ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसानत कुरुते तथा ।**

-गीता ४/३७

**प्रश्न - २०१ - तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं तथा उसका क्या साधन है ?**

**उत्तर -** ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार का गुरु मुख से वेदान्त महावाक्य का श्रवण,मननादि करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही तत्त्वज्ञान कहते हैं इसी वृत्ति का चिन्तन करने को तत्त्वज्ञान का अभ्यास कहते हैं ।

किसी भी प्रकार ब्रह्मात्म तत्त्व का बारम्बार जो चिन्तन किया जाता है, चाहे वह वेदान्त शास्त्र का श्रवण रूप हो चाहे उसका निरूपण द्वारा हो, चाहें पुस्तक का अवलोकन या पठन पाठन हो बस ब्रह्मात्म तत्त्व का जो बारम्बार अनुसंधान होता है उसे ही तत्वज्ञान का अभ्यास कहते हैं । गीता श्रुति भी तत्त्वज्ञान के अभ्यास का स्वरूप बताती है -

**मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥**

गीता - १०/९

अर्थात् जीव ब्रह्म के एकत्व रूप तत्त्व का बारम्बार स्वंय चिन्तन करे, अधिकारी मुमुक्षु को तत्त्व का निरूपण कर समझाना तथा अपने समान विद्वान पुरुष से मिल तत्त्व का परस्पर बोध को ब्रह्माभ्यास कहते हैं ।

**प्रश्न २०२ - मोक्ष की प्रतिबन्धक वासनाएं कितने प्रकार की होती है ?**

**उत्तर -** वासना दो प्रकार की होती है । एक मलिन तथा दूसरी शुद्ध ।

जो वासना जन्म - मरण के मूल को नाश कर दग्धबीज की तरह देह की प्रारब्ध समाप्ति तक स्थिति बनाये रखने के लिये होती है तथा जिस वासना से अखण्ड एकरस रूप तथा आनन्द वस्तु जानने में आती है उस वासना को शुद्ध वासना कहते हैं । जन्म - मृत्यु को

दिलाने वाली वासना तो अनन्त है फिर भी संक्षिप्त में वासना तीन प्रकार की मानी जाती है ।

**(१) लोकवासना (२) शास्त्र वासना (३) देह वासना ।**

ये उपरोक्त तीनों वासना में से जिसे कोई भी एक दो या तीनों होती है उसे वासना रूप प्रतिबन्ध के कारण ज्ञान के साधन श्रवणादिक करने पर भी आत्मा का संशय विपर्यय रहित शुद्ध ज्ञान नहीं हो पाता । अत: मुमुक्षुओं को मोक्ष के नाश करने वाली इन तीनों वासनाओं का पुरुषार्थ द्वारा नाश करना परम कर्तव्य है ।

**प्रश्न २०३ - लोक वासना किसे कहते हैं तथा यह कैसे दु:ख का कारण होती है ?**

**उत्तर -** मैं ऐसा अपने जीवन का, गृह का आदर्श बनाऊ, ऐसा आचरण धारण करूँ जिससे सब लोग मेरी प्रशंसा स्तुति करे किन्तु कोई मेरी निन्दा न करे इसका नाम लोक वासना है ।

यह लोक वासना सो ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी सम्पादन करना असम्भव है । कारण यह है कि समस्त दोषों से रहित सर्ब गुण युक्त राम, कृष्णादिक ईश्वर की भी समस्त लोग स्तुति नहीं करते थे । उनमें मंथरा, कैकेई, धोबी, रावण बालि आदि कई निन्दा करने वाले इतिहास में प्रमाण है ही । तब फिर मुझ जैसे साधारण बुद्धिवाले अल्प गुण वाले की लोग स्तुति किस प्रकार करेंगे ? अर्थात् नहीं कर सकते । अस्तु लोक वासना पूरी होना असम्भव है । इससे अधिकारी पुरुष को लोक वासना का त्याग कर अपने हित में पुरुषार्थ करना ही कर्तव्य मोक्ष शास्त्र में कहा है ।

जिस कर्म के द्वारा समस्त लोक मेरी स्तुति करे ऐसा कोई कर्म शास्त्र में नहीं है । अत शास्त्रानुसार अपने कल्याण मार्ग में लगकर जगत् का निन्दा स्तुति की चिन्ता छोड़ देना चाहीये । लोक निन्दा या स्तुति से हमारा किचित् भी लाभ या हानि नहीं होने की ।

नीति में कुशल पुरुष के लिये उसकी कोई निन्दा करे अथवा स्तुति करे, लक्ष्मी आवे या चली जावे, आज मरण हो या युगान्तर में हो किन्तु धैर्यवान् विवेकी शास्त्र विहित कर्म से, याने मार्ग से पद मात्र भी विचलित नहीं होता । जो मनुष्य सर्व प्रकार से लोगों को प्रसन्न करने में प्रीति रखने वाला है, जो मनुष्य भोजन वस्त्र में तत्पर रहता है, जो पुरुष व्याकरण आदि अनात्म शास्त्र में प्रीति वाला है, जो पुरुष व्याकरण आदि अनात्म शास्त्र में प्रीति वाला है, जो पुरुष सुन्दर गृह में प्रीति वाला है उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

एक बार लोक वासना श्रीराम को भी लगी थी कि लोक में मेरी कोई निन्दा न करे तथा इसी कारण से शुद्ध सती सीता माता को त्यागकर पूरे सूर्य वंश के नाश का कारण बना था । अत: मोक्ष की इच्छा वाले मुमुक्षुओं को समस्त लोक वासना का त्याग कर अपने कल्याण का मार्ग जो शास्त्रों में बताया है लोक की निन्दा स्तुति की चिन्ता छोड़कर करना चाहिये ।

**प्रश्न २०४ - शास्त्र वासना किसे कहते हैं तथा यह मोक्ष में कैसे प्रतिबन्धक है ? मरण पर्यन्त शास्त्र चिन्तन का ही शास्त्रों में वर्णन है ?**

**उत्तर -** शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण न कर केवल शास्त्र के अध्ययन की जो वासना है उसे शास्त्र वासना कहते हैं । यह शास्त्र वासना भी तीन प्रकार की होती है ।

**(१) पाठवासना (२) अर्थवासना (३) अनुष्ठान वासना।**

पूर्ण जीवन पर्यन्त वेद शास्त्र का पाठ अध्ययन करते रहना किन्तु उन शास्त्रों के तात्पर्य जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय न करने का नाम शास्त्र पाठ वासना है । ऐसी पाठ वासना भारद्वाज मुनि को लगी थी । उन्होंने अपने जीवन के ७५ वर्ष तक वेद के पाठ का अध्ययन किया उसके बाद अत्यन्त वृद्धा अवस्था को प्राप्त हुए । ऐसी अवस्था देख इन्द्र उनके पास आये और कहने लगे हे भारद्वाज ! यदि मैं तुझे

आयु का चौथा (२५ वर्ष) पूर्ण स्वस्थ देऊँ तो क्या करोगे ? तब उन्होंने कहा मैं वेद के पाठ का अध्ययन करूँगा । तब इन्द्र ने उनकी पाठ वासना को निवृत्त करने के लिये वेदों को पर्वत रूप दिखाने लगे और इन वेद रूपी पर्वतों में से एक - एक मुट्ठी लेकर इन्द्र ने भारद्वाज, को दिखाते हुए कहा कि हे भारद्वाज! अभी तक आपने मुट्ठी मात्र वेद का अध्ययन किया है और यह पर्वत रूप वेद का अध्ययन करना बाकी है । इन्द्र के ऐसे वचन सुनकर भारद्वाज मुनि पाठ वासना से मुक्त हुए। उसके बाद इन्द्र ने उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश किया । यह बात तैत्तिरीय श्रुति में भारद्वाजोपारव्यान में प्रसिद्ध है ।

**अर्थवासना :-** समस्त जीवन, शास्त्र के तात्पर्य को न जानकर केवल वेदशास्त्रों के अर्थ की संगति बैठाते रहना, टीका टीप्पणी करते रहना इसका नाम अर्थ वासना है । यह अर्थ वासना भी पाठ वासना की तरह दु:खरूप होने से मलिन वासना रूप है ।

शास्त्र भी अनन्त है, उसी प्रकार शास्त्र प्रतिपादित पदार्थ भी अनन्त है । ये समस्त पदार्थ थोड़े समय में नहीं जाने जा सकते । फिर देह में रोग, भोग रूप विध्न भी अनेक है । अत: जैसे हंस पक्षी जलमिश्रित दूध में से दुधमात्र को ही ग्रहण करता है उसी प्रकार अधिकारी पुरुष भी सर्व शास्त्रों के सार भूत ब्रह्मात्म एकत्व अर्थ को ग्रहण करता है।

जो पुरुष चारों वेदों को पढ़कर व अनेक धर्म शास्त्र पुराणों को जानकर भी ''मैं ब्रह्म रूप हूँ'' इस प्रकार नहीं जानता है केवल प्रवचन देना, शास्त्र रचना करना ही जानता है इसलिए वह कढ़ाई कें कड़छी के समान है । अर्थात् अनेक प्रकार के पकवान भोजन शाकादि को परोसकर भी स्वयं स्वाद से रहित है ।

जैसे कढ़ाई मे बनने वाले मिष्ठान को जिस चम्मच से परोसा जाता है वह चम्मच स्वयं उस मिष्ठान की स्वाद का अनुभव नहीं करती बल्कि उस मिष्ठान को खाने वाला ही उस स्वाद का अनुभव करता है ।

**अनुष्ठान वासना :-** श्रुति तथा स्मृति रूप शास्त्र में विधान किये कर्म में ही समस्त जीवन व्यतीत करने का नाम अनुष्ठान वासना है।

ऐसी वासना निदाघ को हुई थी तो ऋभु नाम मुनि के बारम्बार उपदेश करने पर भी निदाघ ने अनुष्ठान की वासना के कारण ब्रह्म आत्मतत्त्व को नहीं जाना । फिर कुछ काल बाद उसकी परीक्षा ले लेकर उपदेश करके बड़ी मेहनत से समस्त अनुष्ठानों का त्याग कराकर उसको ब्रह्म साक्षात्कार कराया । यह बात विष्णु पुराण में विस्तार से निरूपण की है । अत: शास्त्र वासना आत्म ज्ञान में बाधक है ।

**प्रश्न २०५ - देह वासना किसे कहते है ?**

**उत्तर -** इस पंचभौतिक शरीर में जो प्रीति है कि मैं कभी न मरूँ यह अभिनिवेष ही देह वासना है ।

सारे जीवन २४ घंटे जो केवल अपने स्वास्थ्य रक्षण के लिये विटामिनों, पोषक तत्त्वों, औषधियों का चार्ट बना घड़ी देख, वजन कर सदा खान - पान, स्नान में ही व्यतीत कर देता है, किन्तु देह का परम प्रयोजन मोक्ष के लिये चेष्टा नहीं करता है । उसे यह वासना मोक्ष में प्रतिबन्धक है, क्योंकि उसे मोक्ष सम्पादन हेतु समय ही नहीं मिलता । देह से आज तक कोई मनुष्य या देवता अमर नहीं हुए है । जिसका भी जन्म है प्रारब्ध भोग के नाश होने पर अवश्य ही प्राण निकल जाने वाले हैं । भगवान कहलाने वाले श्रीकृष्ण, राम तथा भीष्म, हरिण्यकश्यप, बलिष्ठ पाँचों पाण्डव, रावणादि के शरीर का भी नाश हुआ तब मैं इसे कैसे बचा सकुंगा ? अतः देहवासना, शास्त्र वासना व लोक वासना का त्याग करके देह रक्षा, शास्त्र स्वाध्याय तथा लोक कल्याणकारी कर्म करते हुए मोक्ष हेतु चेष्टा करना चाहिये ।

**प्रश्न २०६ - आत्मज्ञान की क्या महिमा है ?**

**उत्तर -** जो आत्मरतिवाला है, आत्मा में ही तृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसे कुछ भी शास्त्रकृत विधि (अनुज्ञा) नहीं है। उसे कुछ भी

परमार्थ सम्बन्ध में करना शेष नहीं तथा करे तो उसका कोई प्रयोजन नहीं । तथा समस्त प्राणी मात्र के साथ भी किसी प्रकार का उसका कर्तव्य रूप व्यवहार सम्भव नहीं है । इस वास्ते भगवान् श्रीकृष्ण गीता के ३ अध्याय के १७-१८ श्लोक में कहते हैं -

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवाः ।**
**आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७**

**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।**
**न चास्य सर्व भूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रय ॥ १८**

तथा जाबालदर्शनोपनिषद् में भी कहा है :-

**ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन: ।**
**नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्नस तत्त्ववित् ॥**

जावाल दर्शन उप. १ / २३

अर्थात् जिस मनुष्य ने ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार के आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान कर लिया है तथा तृप्त हुआ है वह कृतकृत्य है अर्थात् करने योग्य वस्तु का उसने सम्पादन कर लिया, जानने योग्य वस्तु जान लिया अब ऐसे ज्ञानवान् को कुछ भी कर्तव्य नहीं है । परन्तु जिसकी बुद्धि में अभी कुछ प्राप्त करना बाकी है । अभी मुझे ऐसा करना चाहिये, मेरे लिये तो यह कर्तव्य है, इस प्रकार जिसको कर्तव्यता है उसने अभी तत्त्व को जाना ही नहीं है । क्योंकि मनुष्य को जहाँ तक ''मै ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार का साक्षात्कार नहीं हुआ वहाँ तक ही मनुष्य को समस्त शास्त्रकृत विधि (अनुज्ञा) कर्तव्य रूप है । वहाँ तक उसके लिये शास्त्र की आज्ञारूप विधि निषेध तथा मोक्ष ये तीनों कर्तव्य रूप है, किन्तु जब अपने आत्मा को ब्रह्मरूप से अच्छी प्रकार निश्चय कर लिया तब उसके लिये विधि (आज्ञा) भी नहीं तथा शास्त्र भी नहीं, क्योंकि संशय तथा विपरीत भावना से रहित ज्ञानवान् को देहाभिमान के अभाव में किसी प्रकार की कर्तृत्व बुद्धि रहती ही नहीं । कारण कि

जिसको दृढ़ अध्यास पूर्वक देह में अभिमान है उसी को अपने आत्मा में कर्तृत्व बुद्धि होती है । वही शास्त्र के विधि निषेध का अधिकारी है ।

जिस समय आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति से भ्रान्ति निवृत्त होती है तब भ्रान्तिजन्य देहाभिमान से रहित ज्ञानवान के लिये समस्त शास्त्रकृत आदेश रूप आज्ञा हट जाती है । फिर वह ध्यान करे ब्रह्माकार वृत्ति का अनुसंधान करे या यथेष्टाचरण में विचरण करे उसके लिये किसी प्रकार का नियम शास्त्रकृत नहीं रहता । उस पर से शास्त्र अपने समस्त अधिकार हटा लेता है ।

जो पुरुष कर्तृत्व बुद्धिवाला है वही अधिकारी है वही पुरुष शास्त्र का व्याख्यान करे तथा वेद पढ़ावे, किन्तु ज्ञानी का निश्चय इस प्रकार होता है कि मैं तो अक्रिय हूँ । इस वास्ते मुझे कोई कर्तव्य नहीं हैं । जिसने अभिन्न ब्रह्म को नहीं जाना उसे ही वेदान्त श्रवण कर्तव्य हैं । किन्तु मैं तो अपने भीतर (प्रत्यक्) अभिन्न ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से याने ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार से जानता हूँ तब मैं क्यों श्रवण करूँ ?

जो व्यक्ति आत्मा में संशय वाला है उसी ही संशय निवृत्ति हेतु मनन करना चाहिये । किन्तु मैं तो समस्त संशय से रहित हूँ मुझे मनन करने से क्या प्रयोजन ? जो पुरुष देह में आत्मबुद्धि रूप विपरीत भावना वाला हैं उसे ही विपरीत भावना की निवृत्ति हेतु निदिध्यासन करना कर्तव्य है लेकिन मैं तो कभी देहभाव को प्राप्त नहीं होता तब मैं क्यों निदिध्यासन करूँ ?

**प्रश्न २०७ - यदि ज्ञानवान् को ब्रह्म साक्षात्कार होने के बाद ध्यान की कर्तव्यता नहीं मानेगे तो प्रारब्ध से चित्त चंचल होने से इच्छानुसार बर्तेगा तो उसके मोक्ष की हानि होगी या नहीं ?**

**उत्तर -** संशय तथा विपरीत भावना से रहित ज्ञानवान् को कुछ भी ध्यान चिन्तनादि की कर्तव्यता नहीं है । समस्त विधि निषेध याने अनुज्ञा परिहार मनुष्य को आत्मज्ञान से पूर्व देहाभिमान के कारण ही कर्तव्य रूप है ।

ज्ञानवान् भ्रान्तिजन्य देहाभिमान से रहित होता है याने उसको देह इन्द्रिय, विषय में सुख बुद्धि नहीं होती । इसलिये वह ज्ञान हो जाने के बाद यथेष्टाचरण में प्रवृत्त नहीं होता । फिर जिस मनुष्य ने अपने आत्म स्वरूप को देश काल, वस्तु परिच्छेद से रहित आनन्द स्वरूप परमात्मा को जान लिया याने मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार अपने रूप को जानता है । वह विद्वान् सर्व प्रकार से जीवन व्यतीत करे याने प्रबल प्रारब्ध के कारण कदाचित् यथेष्टाचरण क्यों न करे फिर भी उसको पुर्नजन्म की प्राप्ति नहीं होती । इसी अभिप्राय को श्रीकृष्ण भगवान गीता स्मृति में इस प्रकार कहते है :-

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।** १८/१७

जिस ज्ञानवान् को मैं कर्म का कर्ता हूँ इस प्रकार की भावना नहीं तथा मैं अमुक कर्म के फल को भोगूँ गा इस प्रकार जिसकी बुद्धि कर्म फल में लिपायमान नहीं होती वह ज्ञानवान कदाचित् सर्वलोक का खून करे तो भी वह खून की क्रिया का कर्ता न होने से निष्पाप ही है फिर शेष भगवान ने तो कहा है -

**हयमेधसहस्त्राण्यथ कृरूते ब्रह्मधातलक्षाणि परमार्थविन्न**
**पुण्यंर्नच पापैः स्पृश्यते विमलः**

अर्थात् 'मैं ब्रह्म रूप हूँ' इस प्रकार के साक्षात्कार वाला तत्ववेत्ता पुरुष यदि हजार अश्वमेध यज्ञ करे अथवा लक्ष ब्राह्मणों को मारे फिर भी उस तत्त्ववेत्ता का अश्वमेध यज्ञ जन्य पुण्य के साथ व ब्रह्म हत्या जन्य पाप के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता है । इसलिये तत्त्ववेत्ता अविद्या मल से रहित निर्मल है ।

किन्तु जब ज्ञानवान् ध्यान परायण अर्थात् ब्रह्म चिन्तन परायण होता है तब उसे ब्रह्मानन्द रूप दृष्ट सुख अधिक होता है उसी प्रकार जब ध्यान परायण नहीं होता तब उसे बाह्य प्रवृत्ति के कारण केवल दृष्ट दु:ख

मात्र ही होता है, किन्तु किसी प्रकार की जब संशय तथा विपरीत भावना अपने आत्मा अभिन्न ब्रह्म के प्रति नहीं होता जो उसके मोक्ष का प्रतिबन्ध हो सके, क्योंकि अनेक काल श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मात्मतत्त्व का निश्चय याने आत्मा ही ब्रह्म है ऐसा प्रत्यक्ष वस्तु की तरह अद्वय आनन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव कर लेता है । संशय विपर्यय रहित ज्ञानवान् को अच्छी प्रकार जानी हुई वस्तु में कदापि भ्रम नहीं होता है ।

प्रारब्ध कर्म के कारण खान - पानादि व्यवहार करते हुए भी ज्ञानवान् अवश्य मोक्ष को प्राप्त होता है । इस विदेह माक्ष का कोई भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । श्रुति में ज्ञानवान् के मोक्ष में क्या विलम्ब है यह बताया है -

**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षोऽथ संपत्स्ये ॥**

जहां तक ज्ञानवान् अपने वर्तमान देह को देने वाले भोगों से रहित नहीं हुआ, वहीं तक ज्ञानवान् को विदेह मोक्ष में विलम्ब है, किन्तु प्रारब्ध कर्म की पूर्ण निवृत्ति के बाद ज्ञानवान् निर्विशेष ब्रह्म भावरूप विदेह मोक्ष को अवश्य प्राप्त होता है स्मृति में भी कहा है :-

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥**

**गीता ॥ १३ । २३**

अर्थात् जिसने अपने आत्म स्वरूप को देश, काल, वस्तु परिच्छेद से रहित तथा प्रकृति को विकारी जड़ परिच्छिन्न रूप जान लिया ऐसा व्यक्ति चाहे जैसा प्रारब्धानुसार व्यवहार करे किन्तु उसको उन कर्मों के करने से किसी प्रकार का भी बन्धन नहीं होता; अर्थात् पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होता । जिसको वैराग्य तथा संसार के प्रति सुषुप्तिवत् उपरति हो जावे किन्तु आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ तो उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि ब्रह्मलोक के सुख भोग की प्राप्ति होती है । ऐसा योग भ्रष्ट पुर्नजन्म को ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करता है ।

किन्तु किसी पाप रूप प्रारब्ध के कारण मध्यम अधिकारी को वैराग्य तथा उपरति ये दोनों प्रतिबन्ध होते हैं, लेकिन आत्म ज्ञान जिसे हो चुका है उसे मोक्ष तो अवश्य प्राप्त होगा। केवल वैराग्य एवं उपरति के अभाव में वृत्ति बहिर्मुख होने से दृष्ट दुःख निवृत्त नहीं होगा ।

किसी को महान् तप के फल स्वरूप वैराग्य उपरति तथा बोध तीनों एक साथ होते हैं वह उत्तम अधिकारी कहलाता है । अतः ज्ञानवान् को ध्यानादि साधन कर्तव्य नहीं है तथा प्रारब्धनुसार यथेष्टाचरण करे तो भी देहाभिमान से रहित कर्म में कर्तृत्व बुद्धि तथा फल में आसक्ति न होने से उसके मोक्ष में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता है ।

**प्रश्न - २०८ - पूर्ण बोध की अवधि क्या है ?**

**उत्तर -** जैसे अज्ञानी पुरुष को देह में दृढ़ आत्म बुद्धि होती है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसी कभी संशय तथा विपरीत भावना नहीं होती। उसी प्रकार मुमुक्षु को अपने ब्रह्मात्म रूप में कभी संशय विपर्यय नहीं होता यही बोध की पूर्णता रूप अवधि है ।

मैं ही जगत् रूप हूँ मेरे से भिन्न कोई भी वस्तु नहीं इस प्रकार का सर्वात्म भाव समस्त वेद का परम तात्पर्य है । ऐसा ज्ञान वाला पुरुष मोक्ष की चाह न करे तो भी मोक्ष को उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे वृक्ष से गिरने वाला बिना इच्छा किये भी भूमि को स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

**प्रशन २०९- ब्रह्म साक्षात्कार से मनुष्य की अविद्या की निवृत्ति तथा ब्रह्म भाव रूप मुक्ति की प्राप्ति होने में क्या प्रमाण है ?**

**उत्तर -** आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष होता है इसमें समस्त श्रुति तथा स्मृति वचन ही प्रमाण रूप है । गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है -

**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात् कृतकृतस्यश्च भारत ॥**
**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥**

हे अर्जून! इस ब्रह्मात्म तत्व को ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार साक्षात्कार कर मनुष्य बुद्धिमान होता है, कृत - कृत्य होता है । ज्ञानवान् मनुष्य मैं रूप परमेश्वर की आत्मा ही है ।

भगवान् शिवजी रामजी को कह रहे हैं । शिव गीता अध्याय २३ श्लोक ३३ में -

**वृक्षाग्रच्युत पादो यः स तदैव पतत्यधः**
**तद्वज्ज्ञानवती मुक्तिर्जायते निश्चितापितु ॥**

जैसे वृक्ष के अग्रभाग से फिसल जाने पर बिना इच्छा किये भी भूमि को आ ही मिलता है उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार वाला पुरुष बिना इच्छा के भी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । श्वेताश्वर उपनिषद ६ अध्याय के १५ मंत्र में कहा है ।

**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय ॥**

अधिकारी मनुष्य परमात्मा को 'मैं ब्रह्म रूप हूँ' इस प्रकार का साक्षात्कार कर संसार के कारण अज्ञान रूपी मृत्यु का नाश करता है। इस (मैं ब्रह्म हूँ) प्रकार के साधन के अलावा दिव्य परम धाम (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है ।

**'ब्रह्म विदाप्नोति परम'** (तै०उप०२/१)

ब्रह्मवेत्ता अर्थात् 'वह ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा साक्षात्कार करने वाला परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

**स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मवै भवति**

(मु० उप० ३।२।९)

जो भी उस परमात्मा को ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ।

**आचार्यवान्पुरुषो वेद**

(छन्दोग्य. उप. ६।१४।२)

भावार्थ :- गुरु द्वारा ही ज्ञान होता है ।

**अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद**

(बृ० उप० ४।४।२५ )

जो इस प्रकार जानता है कि ''मै ब्रह्म रूप हूँ'' वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है ।

**या मति: सा गर्ति भवति**

यदि में जीव हूँ, पापी हूँ जन्म - मृत्युवान् हूँ ऐसा ही कोई निश्चय करेगा तो वह वैसा ही हो जायगा ।

यदि कोई मैं ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय करेगा तो वह निश्चित ब्रह्म ही होगा, क्योंकि ये आत्म देव सत्य संकल्प है । जो जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है ।

**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशै:-**

मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ इस प्रकार आत्म देव की जानने से समस्त अविद्याकृत बन्ध नष्ट हो जाते हैं । वह मोक्ष किसी अन्यसाधन द्वारा नहीं जाना जाता । वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्मात्म विज्ञान के अलावा कुछ भी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए साधन रूप से नहीं जाना जाता ।

**तरति शोकं आत्मवित्**

आत्मा को अपरोक्ष रूप से अर्थात् 'मैं आत्म ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से जानने वाला ही शोक (जन्म - मृत्यु) से तर जाता है । अर्थात् संसार के कारण रूप अज्ञान का नाश करता है । भगवान श्री कृष्ण गीता में कहते हैं -

**इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासत:**
**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते** ।। १३।१८

आत्मा देश, काल, वस्तु परिच्छेद से रहित तथा क्षेत्र (शरीर) देश, काल, वस्तु परिच्छेद सहित है । मैं ब्रह्म रूप आत्मा हूँ इस प्रकार

के ज्ञान को तत्त्व से समझकर मुमुक्षु मैं रूप परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। इसी भाव को फिर कहा है -

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**
**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।**

गीता १३ । ३४

शरीर तथा आत्मा के अलग - अलग स्वभाव को जानकर तथा प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं वे महात्माजन परमपद को प्राप्त होते हैं । अत: तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न हुए ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार के साक्षात्कार द्वारा अविद्या का नाश हो कर ब्रह्मभाव रूपी मोक्ष को प्राप्त होता है ।

**तीर्थे स्वपच ग्रहे वा नष्ट स्मृतिरपि त्यजन्देहम् ।**
**ज्ञान समकाल मुक्त: कैवल्यं याति हतशोक: ।।**

काशी आदि तीर्थ में अथवा चाण्डाल के घर में शरीर का त्याग हो और सन्निपात आदि महा भयंकर रोग के कारण ब्रह्मात्म चिन्तन की विस्मृति भी हो जावे फिर भी ज्ञानवान् मनुष्य कैवल्य मोक्ष को ही प्राप्त होता है, क्योंकि आत्म ज्ञान जिस क्षण हुआ तत्त्ववेत्ता उसी क्षण से मुक्त ही है । याने गुरु वाक्य द्वारा जिस क्षण जीव को मैं ब्रह्म हूँ ऐसा संशय तथा विपरीत भावना से रहित शुद्ध ज्ञान हो जाता है वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म स्वरूप ही है । उसके शरीर के पात होने की क्रिया देख उसके विदेह मोक्ष में कुछ भी संदेह न करना, न उन शास्त्र पर सन्देह करना जो ज्ञान द्वारा मोक्ष का प्रतिपादन करते हो ।

**तदिदमप्येतहि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदम् ।**
**सर्व भवति तस्य ह न देवाश्च ना भूत्या ईशते ।।**

बृह. उप. १।४।१०

इस आत्म ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह सर्व हो जाता है । उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि आत्मज्ञान द्वारा वह उनका भी आत्मा हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा अज्ञान की निवृत्ति तथा ब्रह्म भाव रूप मोक्ष की प्राप्ति श्रुति स्मृति द्वारा प्रमाण रूप है ।

**प्रश्न - २१०- आत्मा से पृथक् कुछ भी देखने जानने का क्या फल है ?**

**उत्तर -** अपने आत्मा से पृथक् किंचित् भी कुछ भेद देखने वाले के लिये श्रुति जन्म - मरण रूप भय बतलाती है । याने वह जन्म-मृत्यु रूप भय को ही प्राप्त होगा जो आत्मा से पृथक् कुछ और है ऐसा मानता है ।

**द्वितीया द्वै भयं भवति**

और वह व्यक्ति मुत्यु द्वारा मरकर पुन: जन्म ग्रहण कर पुन: पुन: मरेगा । जो अपनी आत्मा से पृथक् कुछ भेद रूप से जानता है इसके लिये श्रुति कहती है कि - ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो अपने आत्मा से ब्राह्मण जाति को अलग जाने कि मैं और हूँ और यह ब्रांह्मण जाति आत्मा से अलग है ऐसी अवस्था में ब्राह्मण जाति उसे कैवल्य पद से च्युत कर देती है । क्षत्रिय उसे गिरा देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्म से भिन्न जानता है । लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों को आत्मा से भिन्न जानता है । देवता उसे परास्त कर देते हैं जो देवता ओं को अपने आत्मा से भिन्न समझता है । वेद उसे परास्त कर देते हैं जो वेद को आत्मा से भीन्न समझता है । भूत उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न समझता है । सब उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भीन्न जानता है । अर्थात् यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये समस्त नाम रूपात्मक संसार जितना है यह सब आत्मा ही है ।

ब्रह० उप० १।४।१०

आगे फिर श्रुति कहती है -

**अथ योऽन्या देवतामुपास्तेऽन्यो ऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्**

बृह० उप० १।४।१०

ओर जो देवताओं को ''यह अन्य है'' और मैं अन्य हूँ इस प्रकार उपासना करते हैं वे नहीं जानते हैं । जैसे पशु होता है वैसे ही वह भेद उपासना करने वाला भक्त उन देवताओं का पशु ही है ।

**मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन् ।**
**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यह इह नानेव पश्यति ।।**

बृह. उप. ४।४।९

इस आत्म देव का साक्षात्कार किसी श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ के उपदेश द्वारा ही करना चाहिये । इस आत्म देव से पृथक् कुछ भी नहीं है । जो इसमें नानात्व को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है ।

**प्रश्न २११ - कृपण (कंजुस) किसे कहते ?**

**उत्तर - यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहेति यजते तपस्तायते बहूनि वर्ष सहस्त्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति**

**यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोत्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः**

जो कोई इस लोक में इस अविनाशी आत्मा को न जानकर हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेको सहस्त्र वर्ष पर्यन्त तप करता है उसका यह सब कर्म अन्तवाला ही होता है । जो कोई भी अपने आत्म स्वरूप का अपरोक्ष किये बिना इस लोक से मरकर जाता है वह कृपण है ।

जैसे कि कृपण के चारों ओर धन होने पर भी वह उसका सुख भोग किये बिना ही संसार से चला जाता है । उसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा ही सर्वत्र होने पर भी उसको बिना जाने कष्ट पाकर, दूसरों को दु:ख देकर, चोरी, निन्दा, संग्रह, भयादि से युक्त ही मर जाता है । इसलिये वह कृपण ही है किन्तु जो अपने अविनाशी आत्मा को जानकर लोक से जाता है वह ब्राह्मण है ।

३।८।१० बृहद. उप.

**प्रश्न २१२ - इस अविनाशी आत्मा का क्या स्वरूप है ? इसे कैसे जाना जावे ?**

**उत्तर -** यह आत्मा स्वयं दृष्टि का विषय रूप नहीं है जिसे आँखें देख सके, किन्तु यह आत्मा तो स्वयं देखने वाला द्रष्टा ही है फिर भला इसे और किस आँखों से देख सकते हैं ? अर्थात् यह आत्मा नेत्र द्वारा दिखने की वस्तु नहीं है । यदि कहो कि आत्मा 'रूप' नहीं तो 'शब्द' है । नहीं आत्मा श्रवण का विषय शब्द भी नहीं है जिसे कान सुन सके यह आत्मा तो स्वयं शब्द को सुनने वाला श्रोता है । फिर भला इसे किस कान से सुना जा सकता है ? जो सब को सुनने वाला है । अर्थात् आत्मा श्रवण का विषय ही नहीं वह तो स्वयं श्रोता है ।

यदि कहो कि जब वह नेत्र का विषय नहीं, श्रोत्र का विषय नहीं, ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं तो क्या अन्तःकरण के द्वारा जाना जा सकता है ? याने क्या वह मनन रूप है । नहीं यह आत्मा मनन का विषय भी नहीं है कि आप उसका चिन्तन कर सकें, बल्कि वह स्वयं मन्ता है याने मनन करने वाला है । तब भला उसे किस मन्ता द्वारा मनन किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता । तब क्या वह बुद्धि का विषय है ? नहीं वह तो स्वयं अविज्ञात रहकर सबको जानने वाला ही है । भला सबको जानने वाले को किस प्रकार किस साधन से जाना जा सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं जाना जा सकता ।

तब फिर आप कहेंगे कि श्रुति वाक्य तो उसीको जानो वही जानने योग्य है कहता है -

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतंव्यो मन्तव्यो ।**
**निदिध्यासितव्यो इत्यादि ...** ४।५।६ बृहद. उप.

यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है । अर्थात् यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है इस श्रुतिवाक्य से उपरोक्त कथन का विरोध पड़ता है कि वह आत्मा दर्शन का विषय नहीं है, श्रवण का विषय नहीं है, मनन का विषय नहीं है जानने का विषय नहीं है ।

उपरोक्त दोनों श्रुतियों का जो विरोधाभास प्रतीत होता है वह वाच्यार्थ से है । उसका गूढ़ अर्थ यही है कि इस शरीर में जो देखता है, सुनता है, मनन करता है, जानता है वही आत्मा है । उसके अलावा कोई अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है । अर्थात् वह अविनाशी आत्मा मैं ही हूँ । इस प्रकार आत्मा तत्त्व श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने योग्य है ।

इस शरीर में जो 'मैं देखता हूँ' ऐसे जानता है वह आत्मा है और नेत्र उसके रूप ज्ञान का साधन है । जो इस गन्ध को मैं सुंघता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और गन्ध के ज्ञान के लिये नासिका है । जो मैं इस वाणी का उच्चारण करता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके उच्चारण के लिये वाणी है । जो मैं सुनता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके श्रवण के लिये श्रोत्र है । जो जानता है कि मैं आत्मा हूँ वह आत्मा है और मन उसका ज्ञानचक्षु है । इस प्रकार अपने स्वरूप को प्राप्त वह मुक्त पुरुष इस चक्षु रूप मनके द्वारा इन भोगों को देखता हुआ आनन्द को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार अपने अविनाशी आत्मा को सद्गुरु की सेवा कर उनकी प्रसन्नता प्राप्ति द्वारा उनसे उपदेश ग्रहण करके जाना जाता है ।

जिस बोध की प्राप्ति हेतु लोग गुरुसेवा में जीवन व्यतीत कर देते थे, जिसे इन्द्र ने १०१ वर्ष के तप द्वारा जाना उसे आज कलियुग में लोग बिना सद्गुरु के अपने मतानुसार धार्मिक पुस्तक, शास्त्र पढ़कर ही जान लेने का मिथ्या अभिमान करते हैं, किन्तु उनकी बुद्धि में भेद की ही जागृति होती है अभेद की नहीं होती ।

**प्रश्न २१३ - आत्मगुरु का क्या स्वरूप है ?**

**उत्तर -** जैसे पिता कन्या का हाथ योग्य वर के हाथ में दे देता है वैसे ही जो तुम्हारे हाथ में रखी वस्तु की तरह तुम्हारे हृदय में तुमही आत्म ब्रह्म हो ऐसा विश्वास पैदा करा दे वह आत्मगुरु होता है । जब तक ऐसा गुरू न मिले तब तक जीव का कल्याण नहीं हो सकेगा ।

जिसने तुम्हे मंत्र दिया वह उपासना गुरु, जिसने तुम्हें साधन बताय वह भी गुरु है । इन्हें गुरु मानो, इनका हम निषेध नहीं करते हैं । जिसने तुम्हे अक्षर ज्ञान दिया, पढ़ाया वह भी गुरु है । जिन्होंने सभ्यता सिखाई वे माता - पिता भी गुरु हैं ये सब गुरु तुल्य हैं, लेकिन ये व्यवहार के या साधन के उपासना के गुरु है । वास्तविक गुरु वह है जो तुम्हारे अज्ञान को मिटा दे । जो तुम्हे शिष्यत्व के बन्धन से निकालकर ब्रह्मस्वरूप के होने का दृढ़ बोध करा दे ।

तुम जिसे अपना इष्ट मानते हो मानो । गुरु का, मंत्र का, इष्ट का हम निषेध नहीं करते । हम तो केवल यह कहते हैं कि चाह के जो तुमने पृथक् - पृथक् नाना विषय बना रखे हैं, उन चाहों को समेटकर एक चाह रूप जानो कि तुम नाना विषय वस्तु नहीं केवल आनन्द ही चाहते हो । इस प्रकार तुम्हारी समस्त इच्छाओं का एक लक्ष्य वस्तु रूप बोध करा दे और उस लक्ष्य वस्तु का नाम परमात्मा है ऐसा शास्त्र से निश्चय करा दे तुम आनन्द ब्रह्म को ही विभिन्न नाम, रूप, विषयों के रूप में चाहते हो । फिर उस परमात्मा को पाने का उपाय तुम्हारे समस्त बाह्य प्रयत्नों को समेटकर एक अन्तर देश में दर्शादे । और फिर उस इष्ट

को तुम्हारा अपना ही असली स्वरूप बोध करा दे कि जिस परमात्मा को जिस आनन्द स्वरूप ब्रह्म को तुम अनादिकाल से बाहर - बाहर नाम रूपों में खोज रहे थे वह तो तुम्हारा अपना आत्मा ही है । इस प्रकार गुरु ने तुम्हे इष्ट दिया, साधन दिया, लक्ष्य भी हाथ पर रखी वस्तु की तरह बोध स्वरूप जनवा दिया । जिसे अनेक साधन, इच्छा, मंत्र, उपासना, समाधि के द्वारा तुम प्राप्त करना चाहते थे उसने बिना कष्ट के तुम्हें सहज ही में श्रद्धा विश्वास के मूल्य पर बता दिया।

जो तुम्हे आचार की रीति बतावे वह है धर्मगुरु। जो इष्ट एवं मंत्र बतावे वह योगगुरु किन्तु जो तुम्हारे मन के समस्त संशयों को, सम्पूर्ण जिज्ञासाओं को उसके कारण अज्ञान सहित दूर कर दे वह है वास्तविक आत्मगुरु।

## प्रश्न २१४ - परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जावे तो गुरु को मिटा दिया जाय या नहीं ?

**उत्तर -** जब हम तत्त्व विचार करते हैं तब कहते हैं कि गुरु शास्त्र शिष्य का विकल्प मिथ्या है । अधिष्ठान आत्मतत्त्व में परमार्थ से कोई गुरु शिष्य नहीं है । न कोई शास्त्र है एक अद्वितीय, चिन्मात्र (ज्ञान रूप) वस्तु है । ''न बन्धुर्न मित्रं गुरुनैव शिष्य: चिदानंद रूप: शिवोऽहम् शिवोऽहम् ।'' लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि व्यवहार में गुरु शिष्य शास्त्र का निषेध हो गया है । जहाँ तक व्यवहार का ज्ञान है शरीर है अपने पराये का बोध है हंसना, बोलना, खाना, पीना, सोना, जागना, मल मुत्रादि का त्याग का होश है वहाँ व्यवहार में गुरु शास्त्र शिष्य की मर्यादा भी है ।

**यावज्जीवं त्रयो वन्दया वेदान्तो गुरुरीश्वर :**

जब तक जीवन है अपना मस्तक गुरु के आगे झुकावो, शास्त्र ईश्वर को मानो । जब तक संशय जिज्ञासा सब मिट न जाय पूछते चलो। एक दिन तुम्हारा अज्ञान सद्गुरु निवृत्त कर देगा । अज्ञान है इसलिये पूछना है इसलिये मार्ग जानना है, इसलिये मार्ग बतलाने वाला

चाहिये । जब अज्ञान दूर हो गया तब तो तुम कृतकृत्य हो गये । तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वरूप में स्थिति कर चुके, जो पहले से ही थे किन्तु अज्ञान आवरण के कारण नहीं जान पा रहे थे । अब तुम्हें न मार्ग चाहिये न मार्ग बतानेवाला । अतएव जहाँ अज्ञान नहीं वहाँ गुरु शास्त्र की भी जरूरत नहीं है । जहाँ सूर्य है वहाँ दीपक की जरूरत नहीं है केवल रात्रि तक ही इनकी जरूरत रहती है ।

किसी ने गुरु शास्त्र तुम पर बोझा रूप लादा नहीं है । तुम्हारे अज्ञान ने गुरु शास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न की व तुम्हारे मन ने भी प्रसन्नता से स्वीकार किया था । जब रोग मिट गया तो औषधि व डाक्टर से भी मुक्त हो गये । ज्ञानोत्तर काल में गुरु - शिष्य का भेद नहीं है ।

**गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ।**

मैं केवल चैतन्य आनन्द ज्ञान स्वरूप कल्याण रूप आत्मा हूँ। न मेरा गुरु है न मैं किसी का गुरु हूँ ।

**प्रश्न २१५ - अन्य लोगों की अपेक्षा ज्ञानी की स्थिति विशेष रूप से रहना चाहिये या नहीं ?**

**उत्तर -** प्रायः साधक ज्ञानी की स्थिति विशेष चाहते रहते हैं । कुछ नूतन, कुछ अन्य, कुछ समाज के जीवों से विचित्र स्थिति बनाये रखने के लिये हरदम प्रयत्नशील रहकर कष्ट पाते रहते हैं । और वे अपने को इतना कष्ट देते हैं कि आप ही अपने जीवन के एक अच्छे शत्रु ही हो जाते हैं । क्योंकि यह भूल बहुत पुरानी चली आ रही है । समाज उसे बहुत श्रेष्ठ कहता है जो अपने जीवन को अधिक से अधिक मार सके, कष्ट दे सके, किन्तु सोचना चाहिये की अभिष्ट (इच्छित) अवस्था का कोई आकार है या नहीं ? कोई कल्पना है या नहीं ? यदि उस अवस्था का आकार कल्पना है तो फिर आप निर्विशेष सत्य नहीं जान सकते हैं, निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकते । यदि निर्विशेष ब्रह्म अभिष्ट है तो फिर वह अभी नहीं है यह किस आधार से कह रहे हो । अभी है ऐसा मान लिया तो समस्त साधना के श्रम से तुम्हारी अभी ही मुक्ति है।

कोई भी स्थिति प्राप्त होगी तो कहाँ ? कुछ प्राप्त होगा तो वह क्या होगा ? ब्रह्म तो नित्य सर्वत्र परिपूर्ण ही है, उसमें तो कुछ होगा नहीं। अब रहा जीव का कल्पित मिथ्या अन्तःकरण उसमें ही होगा । यदि सूक्ष्म शरीर की अनित्यता का तत्त्व विवेक द्वारा निश्चय कर लिया तो फिर ऐसे अन्तःकरण की स्थिति विशेष होने का आग्रह क्यों ? इसके लिये समस्त चेष्टा व्यर्थ श्रम मात्र ही होगी; क्योंकि वह तुमसे परिच्छिन्न, दृश्य, जड़ तथा विकारी ही है ।यदि तुम उसकी स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो कर्ता बन गये । अब बताओ तुम कर्ता हो या द्रष्टा, अकर्ता ? यदि अकर्ता हो तो स्थिति विशेष बनाने का संकल्प छोड़ दो । यदि तुम समझते हो की आनन्द विशेष मिलना चाहिये जो अभी नहीं है तो फिर तुम भोक्ता बन गये । अब सोचो तुम्हारा असली स्वरूप अभोक्ता है या भोक्ता ? यदि अभोक्ता है तो तुम अभी भी परिच्छिन्न आनन्द से विलक्षण पूर्ण आनन्द स्वरूप हो । बस ध्यान समाधि का झंझट भी समाप्त हो गया ।

चिदात्मा को शरीर में सीमित मत करो और शरीर में जो अहंकार देह की समस्त क्रियाओं का निर्वाह कर रहा है उसे अपने से पृथक् देखो । चैतन्य आत्मा और अहंकार (चिदाभास) एक मानना ही अविद्या जन्य ग्रन्थि है जो अनादि से लगी हुई सी प्रतीत होती है । यद्यपि यह ग्रन्थि मिथ्या है किन्तु जीव में मोह विशेष होने से उसे बन्धन की भ्रान्ति ही गई है और विवेक के अभाव में उसे यह पता नहीं हो पा रहा है कि वास्तव में मैं बन्धा नहीं हूँ । जब किसी गुरु की कृपा द्वारा यह सत्य बोध हो जायेगा कि मैं तो नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, असंग, आत्मा हूँ । बस वह अनादि ग्रन्थि बिना प्रयत्न के खुल जावेगी। तब चाहे कोटि - कोटि इच्छाएँ दृश्य अन्तः करण में होती रहें उससे द्रष्टा आत्मा में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता ।

**नयने रूप निमग्ने क्षोभः क इव देहिन :**

योगवाशिष्ठ ५।८०।३